Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 15 अंक 2 जुलाई, 2001

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक
यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सह सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा : सरला कल्ला

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 15 अंक 2 जुलाई, 2001

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा : सरला कल्ला

दर्शन प्रतिष्ठान

जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

परामर्शदाता

1. **गोविन्दचन्द्र पांडे,** 11, बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद - 211002
2. **दयाकृष्ण,** बी-189/ए, विश्वविद्यालय मार्ग, बापूनगर, जयपुर - 302004
3. **रमेशचन्द्र शाह,** एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल- 462003
4. **अशोक वाजपेयी,** सी 2/43, शाहजहाँ रोड, नई दिल्ली - 110011

संपादक

1. **यशदेव शल्य,** पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर - 302015
   दूरभाष 515693
2. **मुकुन्द लाठ,** ए37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर 302006
   दूरभाष 213737 / 211725

सहायक-संपादक

1. **अम्बिकादत्त शर्मा,** दर्शन विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर - 470003 (म. प्र.)
2. (सुश्री) **सरला कल्ला,** दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर 302004
   दूरभाष 200297

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 40/-
संस्थाएं — रु. 60/-

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 400/-
संस्थाएं — रु. 4000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से लेज़र कंपोजिंग तथा कमल प्रिन्टर्स, जयपुर में मुद्रित।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अनुक्रमणिका

1. आत्मकेन्द्रित चिन्तन की मूल भ्रान्तियाँ — दयाकृष्ण 85
2. , काव्य का याथार्थ्य — यशदेव शल्य 101
3. फाउस्टियन मैन — मुकुन्द लाठ 113

गोष्ठियाँ

1. उन्मीलन-गोष्ठी - आत्मकेन्द्रित दर्शन की मूल भ्रांतियाँ 147
   विषय-प्रस्ताव दयाकृष्ण
   प्रतिक्रियाएं
   1. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर
   2. यशदेव शल्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सूचना एवं निवेदन

1. **उन्मीलन** के इस अंक से हमने लेखकों को मानदेय देने का निर्णय किया है।

2. इस अंक से संपादन में सहयोग के लिए हमने डॉ. अंबिकादत्त शर्मा तथा डॉ. (सुश्री) सरला कल्ला को आमंत्रित किया था, जिसे इन्होंने कृपापूर्वक स्वीकार कर लिया है।

3. **उन्मीलन** में हम प्राचीन दार्शनिक विचारों का विवरण प्रस्तुत करने वाले लेखों की अपेक्षा परंपरा को आगे बढ़ाने वाले लेखों को वरीयता देते हैं।

4. लेखकों से निवेदन है कि वे पुस्तकों के नाम लेख में या पादटिप्पणी में सर्वत्र रेखांकन के साथ दें।

5. पांडुलिपि यदि हस्तलिखित हो तो वह सुपाठ्य अक्षरों में होनी चाहिए, टंकित हो तो संशोधित की होनी चाहिए। उद्धरण विशेष रूप से शुद्ध और सुपाठ्य होने चाहिएं।

संपादक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आत्मकेन्द्रित चिन्तन की मूल भ्रान्तियाँ

दयाकृष्ण

आदमी जब कभी सोचता है, या सोचने की कोशिश करता है, तो अपने को एक ऐसे सोचने के संसार से घिरा पाता है जिसमें कुछ सवाल सहज रूप से उठाये जाते रहे हैं। यह सोचने का संसार हज़ारों सालों के सोचने से बना है और इसमें सैंकड़ों आदमियों ने मिलकर कुछ बनाने की, समझने की, कोशिश की है। अक्सर इसी 'संसार' के सन्दर्भ में लोग सोचते हैं। अगर हिन्दुस्तान में पैदा हुए हैं तो उन्हें दो बातें तो ज़रूर ही विरासत में मिलती हैं। एक यह कि आदमी सुख की तलाश करता है और दुःख से दूर भागता है। दूसरी, उसे स्थायी सुख और शान्ति कभी प्राप्त नहीं होती। तीसरी, जीवन का चरम लक्ष्य, परम पुरुषार्थ, स्थायी सुख और शान्ति को प्राप्त करना है—ऐसा सुख, ऐसी शान्ति जिसमें दुःख की सम्भावना भी न हो। आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति और नित्य, सहज, चिरन्तन 'आनन्द' की अवस्था को उसके परम पुरुषार्थ के रूप में देखा गया है।

इससे बड़ी 'बचकानी' बात क्या हो सकती है? शायद बच्चे भी ऐसा नहीं सोचते कि हमेशा, चौबीसों घण्टे, लड्डू खाते रहें, या वह चीज़ जो उन्हें बहुत पसन्द है, जैसे—आईसक्रीम या कुछ और खाते रहें। दुःख से घबराना वीरों का काम नहीं होता, और सुख की तलाश तो हर जानवर करता है! आदमी और जानवर में फर्क ही यह है कि वह न दुःख से घबराता है न सिर्फ सुख को ही चाहता है। वह कुछ और चाहता है। और यह 'और' क्या है, इसी का जवाब ढूंढने की कोशिश दर्शन करता है, या कम से कम उसे करनी चाहिए।

सुख की बात ही लें तो सहज रूप में यह सवाल उठता है कि आखिर सुख है क्या? जैसे ही आदमी सोचना शुरू करता है तो उसकी यह समझ में नहीं आता कि इस मामूली सी बात को किस तरह समझे, कैसे परिभाषित करे। यह ठीक है कि अच्छी, मन्द, ठण्डी बयार सबको अच्छी लगती है। यह भी ठीक है कि सुबह का सूरज, रात का चाँद, खिलते हुए फूल सबको अच्छे ही लगते हैं और उनको देखकर जो अनुभूति होती है वह साधारणतः सुख की अनुभूति नहीं कही जाती। ऐसे ही अच्छा खाना, स्वादिष्ट भोजन, रंग-बिरंगी चीज़ें, सतरंगी इन्द्रधनुष—ऐसी हज़ारों मिसालें आसानी से दी जा सकती हैं। पर थोड़ा सोचने पर इनमें एक साफ फर्क दिखाई देने लगेगा। खाना पकाना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

एक कला है। हर आदमी, या कहें हर स्त्री या लड़की अच्छा खाना नहीं बना सकती। हरेक के घर में पकाने की खासियत होती है। कोई चीज़ खास अच्छी बनती है और उसको किसी दूसरे से बनाना सीखना पड़ता है, जो यह बताता है कि ऐसे करो तो अच्छा बनेगा। और रंगों की बात लें तो वह भी कोई असान बात नहीं है। इन्द्रधनुष की बात छोड़ भी दें तो कम से कम आदमी की बनाई दुनियाँ के रंग बड़ी मुश्किल से बनते हैं। रंग कच्चे होते हैं, पक्के होते हैं। कपड़े रँगे जाते हैं, रंगरेज़ या रंगरेज़िन जानती है कि कैसे रँगा जाये। और रंगों की मिलावट या उनका मैचिंग तो कुछ और ही बात है। हरेक रंग हर दूसरे रंग के साथ मेल नहीं खाता। रंगों में मेल-बेमेलपन होता है। एक तरफ रंगों की कैमिस्ट्री (रासायनिकी) खुद काफी मुश्किल है और हज़ारों सालों की मेहनत के बाद आदमी ने पायी है, और उसके लिए पता नहीं कितनी तकलीफें उसने उठायी हैं। दूसरी तरफ कहीं रंगों की दुनियाँ तस्वीरों में बदलती है, चित्रकला को जन्म देती है और ऐसे-ऐसे अजीब पेन्टरों की कहानी अपने साथ मिलाती है जिनकी एक-एक तस्वीर लाखों रुपयों में बिकती है। शरीर पर रंग-बिरंगे कपड़े और दीवारों पर तस्वीरें दोनों में एक समानता है और दोनों के पीछे छिपी हैं परेशानियाँ और एक लम्बा इतिहास जो सहज रूप में नज़र नहीं आता, पर वह कम से कम उस आदमी की 'देन' नहीं हो सकता जो सिर्फ सुख की तलाश करता है।

कहानी लम्बी और पेचीदा है, पर हर इन्द्रिय के साथ वह जुड़ी है और उसने एक अपनी अलग नयी दुनियाँ बनाई है। लेकिन इस दुनियाँ के पीछे जो एक सतत साधना है, जो खोज है, जो गवेषणा है, जो जिज्ञासा है, जो पुरुषार्थ है उसकी ओर दार्शनिकों का ध्यान शायद ही कभी भूलकर जाता है। ऐसा क्यों? इसके कई उत्तर हो सकते हैं पर कम से कम यह उत्तर तो आसानी से दिया जा सकता है कि पता नहीं क्यों दर्शन के इतिहास में शुरू से ही यह प्रवृत्ति रही है कि जो कुछ इन्द्रियों से ग्रहण होता है, जो कुछ शरीर से मिलता है उसमें कोई विशेष सार्थकता नहीं है। अगर जीवन का रहस्य समझना है तो उसको बाहर नहीं पाया जा सकता। आँख खोलने से वह नहीं मिलेगा, आँख बन्द करने से शायद मिल जाये। अन्दर की ओर देखो, 'आत्मनं विद्धि', `नो दाईसेल्फ' ये नारे पुराने हैं और इसीलिए शायद दर्शन की किताबों में दुनियाँ की बात कम होती है और 'बातों की बात' ज्यादा। हाँ, एक `बात की बात` करते दार्शनिक नहीं अघाते। वह बात कर्म की है, धर्म की है, पाप-पुण्य की है और ज्ञान-अज्ञान की है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सारा जगत् उनके लिए ज्ञान का विषय है और सारा पुरुषार्थ, कर्म, इसी प्रकार मनुष्य स्वयं, जगत् की ही भाँति, ज्ञान का विषय है और उस कर्म का भी जो उसमें परिवर्तन लाने की चेष्टा करता है। पर यह सब होते हुए भी संसार की जो अनेक विषय-वस्तुएँ हैं उनके विशिष्ट ज्ञान में दर्शन को कोई रुचि नहीं है, और न ही अपने विषय में जो `विषय-रूप` ज्ञान है, उसके बारे में उसे कोई दिलचस्पी है। वह तो केवल इसी से सन्तुष्ट है कि वह ज्ञाता है, और सब ज्ञेय है, या वह विषयी है और सब विषय-मात्र है। वही बात कर्म के बारे में भी है। पर उसकी समझ में यह बिल्कुल नहीं आता कि वह कर्म के द्वारा जो 'सत्' है उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन कैसे ला सकता है? या जो है ही नहीं उसको सत्-रूप प्रदान कैसे कर सकता है? यही बात वह अपने बारे में भी सोचता है। जो मैं हूँ, वह तो सदैव सत्-रूप में हूँ ही, उसमें कोई भी तबदीली कैसे हो सकती है? और जो भी जाना जा सकता है वह तो 'विषय' ही होगा। इसलिए मैं जो विषय-रूप हूँ ही नहीं उसे कभी भी कैसे जाना जा सकता है? या 'जानने' का कोई अन्य अर्थ है? और अगर कोई ऐसा अर्थ है तो उस अर्थ में जिसको भी हम 'जानना' कहते हैं, उसे वास्तव में 'जानना' कहा ही नहीं जा सकता।

इस तरह से सोचने-देखने पर सारा ज्ञान-व्यापार, कर्म-व्यापार, और वह भाव-जगत् जिसमें 'हम' रहते हैं, वह या तो असत् ठहरता है या 'सत्' होते हुए भी निरर्थक ठहरता है।

यही नहीं, कर्म के द्वारा जिस संसार की रचना होती है उस संसार की ओर यह 'दृष्टि' कुछ देख ही नहीं पाती, उसको समझने की बात तो और है। दूसरी ओर, उसको यह समझ में ही नहीं आता कि कोई अन्य भी किसी 'विषयी' को विषय-रूप में देख सकता है। आत्म या चेतना-केन्द्रित विचार यह कभी सोच ही नहीं पाता कि दूसरे भी 'आत्म' हैं, वे भी 'चेतन' हैं और उनमें से कुछ 'आत्म चेतन' हैं। वह तो यह स्वतःसिद्ध मानकर चलता है कि जो विषयी है उसको कभी भी विषय-रूप में नहीं देखा जा सकता। पर उसे अन्य लोगों को 'विषय-रूप' में देखने में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती।

इस तरह मनुष्य के कर्म के द्वारा रचित संसार की ओर कभी उसका ध्यान नहीं जाता, और संसार को वह सदैव जड़ जगत् के रूप में समझने की ही चेष्टा करता है उसी तरह वह प्राणि मात्र को, जिसमें मनुष्य भी शामिल है, भुला कर ही अपना चिन्तन करता है। वैसे 'साधना' की बात बहुत की गई है, पर इसके लिए साधना केवल एक ही प्रकार की होती है, केवल वह जिसका लक्ष्य मोक्ष है या निर्वाण है, या कैवल्य है, यानि ऐसा लक्ष्य जिसमें न संसार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है, न जगत् है, न कोई अन्य है, न उसके प्रति उत्तरदायित्व है, न धर्म है, और न ही कोई पुरुषार्थ।

यह 'आदर्श' केवल उन लोगों का हो सकता है जो शरीर से, मन से, बुद्धि से और अपनी सब इन्द्रियों से 'बूढ़े' हो चुके हैं, जीवन से थक चुके हैं, और ऐसे आदर्श उसी संस्कृति में जन्म ले सकते हैं जो संस्कृति अपने से ही विमुख हो चुकी है।

उसका ध्यान न तो कभी इतिहास की ओर जाता है, न मानव-कर्म के उन अनेक आयामों की ओर जिनमें निहित आदर्शों को चरितार्थ करने की साधना में वह निरन्तर लगा रहता है, और न ही वह मनुष्य के उस कृतित्व की ओर ध्यान देता है जिसमें वह दूसरे मनुष्यों और प्राणियों के साथ मिलकर एक संसार की रचना करता है, ऐसा संसार जिसमें सदैव अधिक अच्छा बनने की, अधिक सुन्दर बनने की अनन्त सम्भावनाएँ निहित रहती हैं। वह संसार कोई प्रकृति का संसार नहीं है, जड़ जगत् का संसार नहीं है, जो स्वचालित है, स्वकेन्द्रित है, जिसमें अच्छे बुरे का सवाल उठता ही नहीं, जहाँ सुन्दर-असुन्दर का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। यह संसार सदैव हर रोज़, हर क्षण मनुष्य की कोशिश से ही बरकरार रहता है। अगर एक क्षण भी नज़र चूके, या कोई भी ग़लती हो जाये, या ध्यान बँट जाये तो फिर वह ढह जाता है, गिर जाता है, नष्ट हो जाता है। उसको बनाये रखने के लिए अनेकानेक मनुष्यों के सतत प्रयास की ज़रूरत रहती है और उन्हीं का प्रयास उनमें कुछ नयापन लाता है, कुछ नयी चीज़ जोड़ता है। इस संसार की ओर ध्यान शायद ही किसी ने दिया हो। यह संसार स्वत: परिचालित नहीं है, वह अपने आप न तो प्रवहमान है न अपने आप बनता है। उसको बनाना पड़ता है और वह किसी एक आदमी के बनाये नहीं बनता। और जब बनता भी है तो बहुत अधिक देर तक वैसा बना नहीं रहता, क्योंकि उसको वैसा बनाये रखने के लिए भी सतत प्रयास की आवश्यकता होती है।

और अगर हम यह सोचें कि जो बनाते हैं वे थकते भी हैं, बीमार भी होते हैं और 'मरते' भी हैं, तो हमें इस संसार के 'होने' पर आश्चर्य ही नहीं होगा, यह भी लगेगा कि यह सब आख़िर कैसे हो सकता है, और अगर होता भी है तो इतने युगों तक कैसे चल सकता है?

हज़ारों साल की, सैकड़ों पीढ़ियों की, कोशिशों से यह जो दुनियाँ बनी है, जिसको बनाये रखने में, सुधारने में, आगे बढ़ाने में हर जीवित व्यक्ति का उत्तरदायित्व है, उसकी ओर परम्परागत चिन्तन में 'ऋण' प्रत्यय के माध्यम से हमारा ध्यान दिलाया गया है। मनुष्य 'ऋणी' है, उन सब लोगों का जिनके

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अथक परिश्रम और मेहनत से उसे वह सब कुछ मिला है जिसके आधार पर वह आज कुछ बनाता है। यही नहीं, वह स्वयं जो कुछ भी है वह भी उसी 'सब' का नतीजा है जो उसे सदियों या हज़ारों साल की आदमी की मेहनत के फलस्वरूप विरासत में मिला है। हमारे यहाँ भारतीय परम्परा में इन ऋणों को पितृ ऋण, देव ऋण और गुरु ऋण के नाम से समझा गया है। कभी-कभी गुरु ऋण को ऋषि ऋण भी कहा गया है। पर ये सब नाम उन ऋणों को पूरी तरह नहीं बताते जिनके आयाम इससे कहीं अधिक हैं और जिनका पूरा आकलन वास्तव में किया ही नहीं जा सकता।

लेकिन जो लोग इनकी चर्चा करते नहीं अघाते वे यह भूल जाते हैं कि जो कुछ भी हमें मिला है वह सब ठीक ही नहीं है, उसमें हज़ारों गलतियाँ हैं, सैकड़ों कमज़ोरियाँ हैं और हमारी आज की मुसीबतें भी उन्हीं लोगों की दी हुई हैं जिनकी वजह से हम जो कुछ भी हैं वह हैं। पैतृक बीमारियों का सबको पता है, गुरुओं के अज्ञान के भी हम उतने ही उत्तराधिकारी हैं जितने उनके ज्ञान के, और अन्धविश्वास की कहानी तो इतनी लम्बी है कि उसका बयान करना मुश्किल है। मनुष्य का मनुष्य के प्रति अन्याय, स्त्री-जाति के प्रति अत्याचार, शूद्र और अस्पृश्य कहे जाने वालों के प्रति व्यवहार की कथा सबको पता है, सीता और द्रौपदी की बात कौन नहीं जानता, और गार्गी के साथ याज्ञवल्क्य ने जो जनक की सभा में किया उसको कौन भुला सकता है? शम्बूक और एकलव्य की कथा को सुन कर किसका सिर शर्म से नहीं झुक जायेगा? ये कहानियाँ ऐसी हैं जो संसार की सब संस्कृतियों में मिलती हैं। जो आज 'मानवाधिकार' की बात करते हैं वे कुछ दिन पहले अफ्रीका के जंगलों से आदमियों को जानवरों की तरह पकड़कर गुलामों के रूप में लाते थे और उन्हें कम से कम उस समय कोई शर्म नहीं आती थी। यही नहीं, काँट और हेगल जैसे दार्शनिकों के देश में यहूदियों के साथ जो हिटलर ने किया वह कल्पना से बाहर की बात है, और अगर अब यह याद रखें कि जर्मनी उस समय का सबसे बड़ा वैज्ञानिक देश था तो हमें और भी अचम्भा हुए बिना नहीं रहेगा।

कहानी पुरानी है, दास्तान लम्बी है। ये थोड़ी सी मिसालें सिर्फ इसलिए दी हैं कि हम परम्परा के प्रति इतने श्रद्धावनत न हो जायें कि यह मान बैठें कि उसने जो कुछ दिया वह सब कुछ ठीक है। गुरुओं के प्रति, माता-पिता के प्रति, ऋषियों के प्रति श्रद्धा तो होनी चाहिए पर अपनी अक्ल बेचकर नहीं। मनुष्य को आख़िर अपनी अक्ल, अपने अनुभव के निकष पर ही देखना-जाँचना होगा और जो कुछ भी उसे मिला है उसमें अगर उसे कोई ग़लती

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दिखाई दे, कोई कमी दिखाई दे तो उसकी ओर ध्यान दिलाना उसका कर्त्तव्य है और उसका परिष्कार करना उसका उत्तरदायित्व।

पारस्परिक, अंन्योन्याश्रित कर्म के द्वारा रचित इस संसार का मूल केन्द्रबिन्दु कहाँ है और इसका संचालन कैसे होता है, इस प्रश्न का उत्तर जब तक हम नहीं ढूँढेंगे तब तक हम इस संसार के मर्म को मुश्किल से ही समझ पायेंगे। 'समझना' और 'करना' ये ज़िन्दगी के दो ऐसे पहलू हैं जिनका आपसी सम्बन्ध बहुत गहरा है। इनमें एक को दूसरे के बग़ैर समझा ही नहीं जा सकता। मनुष्य की चेतना में 'कर्म' ज्ञान पर आश्रित है और ज्ञान कर्म पर, और ये दोनों उस भावजगत् में आश्रित हैं जिसकी चर्चा दर्शन में तो कम ही होती है।

रहते तो हम सब भाव-जगत् में ही हैं, लेकिन इस भाव-जगत् को समझते बिलकुल ही ग़लत तरीके से हैं। भाव के केवल दो पहलुओं की ही चर्चा होती है, और वे हैं सुख और दु:ख। सारे विश्व का चिन्तन इन्हीं को लेकर हुआ है, जैसे और कुछ हो ही नहीं। कितनी आसानी से हम यह भूल जाते हैं कि सुख-दु:ख तो जो भी प्राणवान् है वह महसूस करता ही है और किसी न किसी तरीके से वह जो करता है वह इनसे प्रभावित और परिचालित दोनों होता है। पर ये कर्म के आनुषंगिक पक्ष हैं, उसके न साध्य हैं न ध्येय। साध्य और ध्येय तो कुछ और होता है जिसको बताना मुश्किल है। चिड़िया घोंसला बनाती है, एक-एक तिनका चुन कर किसके सुख-दु:ख के लिए? मनुष्य की बात लें तो उसके कर्म की दशा और भी उलझी जान पड़ती है। जन्म से पहले ही उसके संस्कार की चिन्ता होती है, और आने वाले बालक के लिए कौन क्या-क्या नहीं करता? हर घर में बालक के जन्म के साथ ही कितनी बातें की जाती हैं, उनसे किसका सुख-दु:ख बनता बिगड़ता है? पढ़ाई को लें तो उससे ज्यादा मुसीबत की बात और कौन होगी? हर बच्चा जानता है, और उसके माता-पिता भी, कि न वह पढ़ना चाहता है न वे पढ़ाना। पर तब भी पढ़ना-पढ़ाना, सीखना-सिखाना सबको करना पड़ता है। कभी प्यार से, कभी मारपीट कर, और धीरे-धीरे उसमें मज़ा आने लगता है। यही बात हर जगह है। कर्म का लक्ष्य क्या है, यह किसी को पता नहीं होता, क्योंकि जीवन के लक्ष्य का ही जब पता नहीं है तो कर्म के लक्ष्य का पता कैसे होगा? बहुत हद तक मनुष्य भी उसी तरह परिचालित होता है जैसे पशु-पक्षी या कोई और प्राणी। जन्म से मृत्यु तक का 'वक्र चक्र' उसकी अनसुनी करके चलता रहता है। सुबह शाम होती हैं, और आप चाहें न चाहें आपकी उम्र बढ़ती है, आपको पूछे बग़ैर। कहने का अर्थ यह है कि ज़िन्दगी को समझना उस सबको पूर्वमान्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

करके चलता है जिसको न आप जान सकते हैं न नकार सकते हैं। बुद्धि-अक्ल कुछ पकड़ने की कोशिश करती है, लेकिन जिसको पकड़ना चाहती है वह हमेशा पकड़ के बाहर ही रहता है।

अब सवाल यह है कि अगर बात ऐसी है तो फिर उस समझने-समझाने का क्या फायदा जिसे हम `फ़ल्सफ़ा` कहते हैं? शुरू से ही यह सवाल भारतीय दर्शन में उठाया गया है, और कुछ हद तक दूसरी दार्शनिक परम्पराओं में भी उठाया गया है और इसका एक सीधा-साधा उत्तर यह दिया गया है कि अक्ल का काम सिर्फ उन सब ग़लतफहमियों को दूर करना है जो आदमी के रास्ते में रुकावट पैदा करती हैं, उसको ग़लत रास्तों पर ले जाती हैं, और जो सब खुद अक्ल ने ही पैदा की हैं। दर्शन का काम दर्शन से उत्पन्न भ्रान्तियों से मनुष्य को बचाना है। वास्तव में तो मनुष्य का लक्ष्य वह है जो न बुद्धि के द्वारा उसे पता लग सकता है और न उसके द्वारा प्राप्त हो सकता है। लेकिन अक्ल कम से कम उसमें वह संशय पैदा कर सकती है जिससे वह उस रास्ते पर चलने के पहले ही हज़ार सवाल उसके बारे में कर बैठे और यह ज़िद करे कि जब तक सवालों का सही सही जवाब उसे नहीं मिलेगा तब तक वह चलना ही शुरू नहीं करेगा। आख़िर सुख-दु:ख की बात, आत्यन्तिक दु:ख-निवृत्ति की बात, मोक्ष-निर्वाण की बात, परा-अपरा की बात कोई सीधा-सादा आदमी, जो ज़िन्दगी जीता है, काम करता है, परिवार चलाता है, वह तो नहीं ही करता। ऐसा लगता है कि दर्शन की दुकान और उसका व्यापार दार्शनिकों ने खुद चलाया है और आपस में बैठकर ऐसी चर्चा चलायी है जिसका कम से कम अढ़ाई-तीन हज़ार सालों का इतिहास है। इससे अभी तक उनको ही संतोष हुआ होगा, साधारण आदमी को तो अभी तक कुछ मिला प्रतीत नहीं होता।

फिर कोई पूछे कि हमें आज यह कैसे भ्रम हो गया कि हम भी इस भ्रम को हटाने की दिशा में कुछ कर पायेंगे? वैसे दर्शन के इतिहास में यह भ्रम बार-बार हुआ है। काँट को भी यह भ्रम हुआ था और अभी हाल ही में जिन्हें लॉजिकल पॉज़िटिविस्ट कहा जाता है उनको भी। विट्गेन्स्टाइन का नाम इस संदर्भ में सबको विदित है। अब अगर ऐसा भ्रम हुआ है तो हमारे साथ भी ऐसा होना कोई नयी बात नहीं है। आख़िर बीमारियाँ हमेशा रहती हैं और डाक्टर भी। बुद्ध को 'महाभिषग्' कहा गया है और हर पैगम्बर ने भी अपने को ऐसा ही माना है। मनुष्य किसी असाध्य रोग से ग्रसित है ऐसा हर सोचने वाले ने सोचा है। पर अगर रोग असाध्य है तो उसके इलाज की तलाश करना व्यर्थ है, अगर वास्तव में कोई 'मूल अविद्या' है तो न उसका निदान हो सकता है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

न उपचार। और अगर उपचार या निदान हो सकता है तो न वह वास्तव में असाध्य है न उसको मनुष्य के मूल में ही माना जा सकता है। अगर थोड़ा उलट कर या पीछे मुड़ कर देखें तो ऐसा लगेगा कि उस तरह की बात करना जैसी अब तक की गयी थी, उसमें ही कोई ऐसी ग़लती छिपी है जिसको जब तक हम नहीं समझ पायेंगे तब तक विचार में आगे बढ़ना मुश्किल होगा, और अगर विचार में आगे न बढ़ पायेंगे तो न कर्म में आगे बढ़ेंगे न ज्ञान में और न उस भाव जगत् को समझेंगे जिसमें हम रहते हैं।

ग़लती अगर कोई है तो शायद इसी में है कि कोई ऐसा मूल है जिसके आगे या जिसके पीछे जाया ही नहीं जा सकता, या हम किसी ऐसे जाल या तन्त्र से बँधे हैं जिससे छुटकारा हो ही नहीं सकता। इससे भी गहरी ग़लती शायद यह है कि कोई ऐसी दृष्टि या अवस्था है जिसमें कोई अपना गुण नहीं होता, केवल दोष ही दोष होता है। अगर ऐसा मानकर चलें कि पीछे की ओर भी उतनी ही अनन्तता है जितनी कि आगे की ओर, और उसके साथ यह भी मानकर चलें कि हर चेतना की स्थिति के अपने स्वर्ग-नरक हैं या अपनी संभावनायें हैं जिनके आधार पर आदमी स्वयं अपने जगत् की रचना करता है जिसमें अच्छा-बुरा दोनों होते हैं और इस अच्छे-बुरे की कोई सीमा नहीं है, तो शायद विचार और जीवन दोनों को कोई नई दिशा मिल सकेगी।

अपने यहाँ परम्परा में इस बात को तो माना गया है कि 'अविद्या' अनादि है पर यह नहीं माना गया है कि वह अनन्त है। दूसरी ओर उन्होंने यह तो 'देखा' है कि उस 'अविद्या' के अनगिनत आयाम हैं, और वही अनेक लोक रचती है जिनके सुख-दुःख ही अलग-अलग नहीं होते बल्कि जिनके शिव-अशिव, शुभ-अशुभ, सुन्दर-असुन्दर भी अलग-अलग होते हैं। व्यवहार-जगत् की बात कही गयी है, पर व्यवहार के तो स्वयं अनेक क्षेत्र हैं जिनके अपने अलग-अलग मूल्योन्मुख आदर्श हैं और जिनकी साधना अपने-आप में उतनी ही अनन्त है जितनी किसी और चीज़ की।

अगर हम अविद्या की बात करना छोड़ दें और अनादि और अनन्त दोनों को स्वीकार कर लें और मनुष्य की स्थिति को इस प्रकार देखें कि उसके जितने भी आयाम हैं वे सब एक अलग-अलग विश्व की रचना करते हैं जिनमें से प्रत्येक में अच्छा-बुरा दोनों होते हैं और जिसकी अपनी संभावनाएँ, ज्ञान, कर्म और भाव के क्षेत्र असंख्य हैं, तो शायद एक नयी दृष्टि उत्पन्न हो सकेगी। इसके साथ ही अगर ऐसा भी सोचें कि व्यक्ति वास्तव में कोई अपने में अकेला साधक नहीं है बल्कि मिलजुल कर दूसरों के साथ, दूसरों के सहारे साधना करता है, तो 'यज्ञ' की बात को कुछ नयी तरह से शायद समझा जा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सकेगा। यज्ञ मिलकर होता है और उसके कर्म का फल खाली यजमान को ही नहीं बल्कि सबमें मिलकर ही बँटता है या बँटना चाहिए। और यज्ञ कोई केवल एक तरह का ही नहीं होता, हर क्षेत्र का अपना यज्ञ होता है, और अगर यह भी याद रखें कि ऋषि लोग भी यज्ञ करते थे और राक्षस भी, तो शायद मनुष्य की अवस्था को समझने में अधिक सहायता मिलेगी।

हमारी परम्परा में यह कहा गया है कि राजा प्रजा के पाप-पुण्य का भागी होता है, क्योंकि अगर राजा अच्छा होता है तो प्रजा आसानी से पुण्य कार्य कर सकती है और अगर राजा बुरा होता है तो अधर्म करना आसान होता है और धर्म-पालन मुश्किल। इस विचार को अगर गहराई से समझें और उसको ज्ञान-कर्म-भाव में रूपायित और अवतरित करने की चेष्टा करें तो उस दृष्टि को समझ पायेंगे जो वेदों में **''ॐ सह नाववतु सह नो भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै, तेजस्विनाव-वधीतमस्तु मा विद्विषावहै''** के रूप में मिलती है, जिसका केन्द्र-बिन्दु 'सह' है, शुद्ध या केवली आत्मा नहीं।

'आत्म' में या 'आत्म' से 'सह' भावना कैसे लुप्त हो गयी और उपनिषदों को केवल आत्मकेन्द्रित विचार के रूप में कैसे समझा गया, इस कहानी की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया है। इतना बड़ा 'अन्याय' और वह भी हज़ारों साल तक कैसे हो पाया यह समझना मुश्किल है। शायद इसका उत्तर यही है कि मनुष्य आत्म-चेतन प्राणी है और इसलिए उसका चिन्तन सहज रूप में आत्मकेन्द्रित होता है। आख़िर पश्चिमी परम्परा में भी दार्शनिक विचार आत्मकेन्द्रित ही रहा है। देकार्त की बात सब जानते हैं, पर यूनान में भी जहाँ मनुष्य को मूल रूप में सामाजिक या राजनीतिक प्राणी के रूप में देखा या समझा गया था, वहाँ भी तत्त्व की दृष्टि से मनुष्य पर विचार 'स्व'केन्द्रित ही था। जिस प्रकार अपने यहाँ 'आत्मानं विद्धि' की बात की गयी है उसी प्रकार वहाँ 'नो दाइसेल्फ' की बात कही गई है। पर आदमी की मुसीबत यह है कि उसे 'अपने' को जानने के लिए विश्व को जानना पड़ता है, देश और काल को, और उन सब मनुष्यों और प्राणियों को जिनसे उसका गहरा सम्बन्ध है। कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर को समझे बग़ैर मनुष्य को नहीं समझा जा सकता। यही नहीं, मनुष्य में जो मूल्योन्मुखी या आदर्शोन्मुखी चेतना है, उसको समझे बग़ैर मनुष्य को समझा ही नहीं जा सकता। आख़िर मनुष्य है क्या? वह कुछ भी हो, कम से कम इतना तो स्पष्ट ही है कि उसे न अपने से संतोष है, न जगत् से और न ईश्वर से। उसे कुछ भी पसन्द नहीं आता। उसकी अपनी सृष्टि हो या भगवान की सृष्टि, उसे सब में दोष ही दोष नज़र आते हैं और अगर उसकी कोई सतत साधना है या कोई कभी भी न खत्म

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

होने वाला पुरुषार्थ है, तो वह यही है कि इन 'दोषों' को कैसे कम करे, कैसे हटाये, जगत् को कैसे रुचिकर बनाये, अपने को कैसे अधिक अच्छा बनाये। इसी में उसकी सारी ज़िन्दगी बीतती दिखाई देती है और वह यह भी जानता है कि इस चिरन्तन और सतत पुरुषार्थ-साधना में जब तक 'दूसरे' उसका सहयोग नहीं करेंगे तब तक वह उसमें ज़रा सा भी सफल नहीं हो पायेगा। इससे भी गहरे स्तर पर उसे इसका भी सदैव आभास होता है कि जो उससे स्वतंत्र विश्व है या 'कुछ' है वह जब तक उसे ऐसा नहीं करने देगा तब तक वह कुछ भी नहीं कर पायेगा।

मनुष्य के दार्शनिक चिन्तन की मूलभूत समस्या उसकी चेतना की इसी स्थिति से उद्भूत होती प्रतीत होती है। वह जब सोचता है तो ऐसे ही सोचने को बाध्य होता है। आख़िर दर्द तो मुझे ही होता है, अनुभव भी मुझे ही, ज्ञान भी मुझे ही, और ग़लती करता हूँ तो भी मैं ही करता हूँ और उसका उत्तरदायित्व भी मुझे ही दिया जाता है और मुझे ही भोगना पड़ता है। अगर यह बात ठीक है, और इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता, तो आत्मकेन्द्रित चिन्तन या स्वकेन्द्रित चिन्तन को 'दोषी' क्यों ठहराया जाये? आख़िर मोक्ष भी तो उसी का होता है जो मोक्ष की साधना करता है! बुद्ध को निर्वाण हुआ होगा, उससे मुझे क्या? और महावीर को कैवल्य-पद प्राप्त हुआ या 'सर्वज्ञता' मिली, तो मुझे क्या? न मुझे निर्वाण प्राप्त है न सर्वज्ञता। और क्या सब मुझसे यह नहीं कहते कि तुमने साधना नहीं की इसलिए तुम्हें यह सब कैसे प्राप्त हो सकता है? इम्तिहान मुझे देना है, पास-फेल मुझे होना है तो फिर मेरा चिन्तन और मेरा व्यवहार स्वकेन्द्रित क्यों न हो?

इसका उत्तर देना कठिन है, क्योंकि बात सीधी-सादी है और सबके अपने अनुभव क़ी है। लेकिन विचार ही इसको ग़लत ठहराता है और कहता है कि आख़िर जगत् नहीं हो तो तुम कैसे होगे? पंच महाभूत से शरीर बना है, माता-पिता की देन है, शरीर के होने के लिए अन्न की आवश्यकता है, प्राण के लिए वायु की, मन के लिए जगत् की उन सब वस्तुओं की जो सुख-दु:ख देती हैं, स्वप्न जगाती हैं, लालसा उत्पन्न करती हैं। और बुद्धि के लिए क्या उस सब चिन्तन की आवश्यकता और अनिवार्यता नहीं है जो अनेकानेक मनीषियों ने चिन्तन करके भाषा में आबद्ध किया है? और अगर बुद्धि के परे की बात भी लें, प्रज्ञा की, मनीषा की या किसी और की, तो उसकी भी अपनी परम्परा है; धारणा, ध्यान, समाधि, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, शील, जो कुछ भी है उनकी अपनी परम्परायें हैं, अपने सम्प्रदाय हैं, अपने आचार्य और गुरु हैं जो दीक्षा देते हैं और यह कहते हैं कि ऐसा करोगे तो ऐसा पाओगे।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जहाँ मनुष्य को 'दूसरों' से सीखना नहीं पड़ता। बालक होने का अर्थ ही यह है, विद्यार्थी होने का भी अर्थ यही होता है। वैसे जब तक मनुष्य जीवित रहता है उसको यह पता लगता रहता है कि उसे 'सीखने' की ज़रूरत है और सीखा दूसरों से ही जा सकता है। और, अगर जन्म की बात है तो मृत्यु की बात भी होगी, और मृत्यु की बात सोचते ही आत्म-केन्द्रित विचार विचलित हो जाता है, उसकी समझ में ही नहीं आता कि आख़िर 'उसकी' मृत्यु कैसे हो सकती है! मृत्यु से बड़ा आत्मव्याघाती प्रत्यय उसे दिखाई ही नहीं देता। पर, फिर वह जन्म की बात कैसे मान सकता है? वह यह कैसे स्वीकार कर लेता है कि उसका कभी 'जन्म' हुआ था? जन्म होने पर सब खुशियाँ मनाते हैं—वे भी जो जन्म और मृत्यु को सत्य नहीं मानते। चिन्तन की यह विडम्बना शुरू से ही रही है, और आज भी है। वास्तव में यह उसके स्वरूप में ही अन्तर्निहित है और इसीलिए इससे उसका छुटकारा पाना असंभव नहीं तो मुश्किल ज़रूर है। काँट जैसे महान् चिन्तक को भी इसी परेशानी का सामना करना पड़ा था। एक ओर वह इस बात को पूरी तरह मानता था कि 'ज्ञान' उन कोटियों में आबद्ध है जो उसके स्वरूप को निर्धारित करती हैं, क्योंकि 'जानने' का अर्थ ही यह होता है कि उन कोटियों के द्वारा जानना। दूसरी ओर उसका यह भी दावा था कि ज्ञान के स्वरूप का जो रूप है, जिन कोटियों से निर्मित या निर्धारित होता है, उसका उसे पूर्ण रूप से ज्ञान है। यही नहीं, उसने तो यह भी दिखाने की कोशिश की कि इन कोटियों के अलावा कोई और कोटियाँ हो ही नहीं सकतीं। मनुष्य के ज्ञान का केवल यही स्वरूप है, और इसके अलावा कोई अन्य स्वरूप हो ही नहीं सकता। उसने यह नहीं सोचा कि मनुष्य की चेतना में यह सम्भावना कैसे निहित है कि वह यह जान सकती है कि उसके जानने की प्रक्रिया का 'स्वरूप' ऐसा है कि वह इन कोटियों से निर्मित है। दूसरे शब्दों में कहें तो, उसने अपने से यह नहीं पूछा कि उसके स्वयं चिन्तन की संभावना कैसे हुई और अगर वह वास्तव में हुई तो उसकी पूर्वमान्यता क्या थी। उसने यह प्रश्न नहीं उठाया कि स्वयं उसका मीमांसा कर्म (क्रिटिकल एक्टिविटी) संभव कैसे हो सकता है? इस कर्म की पूर्वमान्यता क्या है? और यदि यह वास्तव है तो क्या **क्रिटीक् आफ प्योर रीज़न** में जिस मीमांसा-कर्म का संपादन किया गया है वह स्वयं भी क्या उन कोटियों से निर्मित होता है जो अंडर्स्टैंडिंग में प्रयुक्त होती हैं? दूसरे शब्दों में, अतिक्रामी मीमांसा (ट्रांसेंडेंटल क्रिटीक) संभव कैसे हो सकती है?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अगर काँट यह सवाल पूछता तो उसे ज्ञान के मूल में भी वही स्वातंत्र्य दिखाई देतां जो उसने नैतिक कर्म, या कहें धर्म के मूल में देखा था। अगर मनुष्य की चेतना अपनी ज्ञान-सम्बन्धी प्रक्रिया में कोटियों से वास्तव में आबद्ध होती तो वह उन कोटियों को जान ही नहीं सकती थी। अब, जो बात काँट के सम्बन्ध में ठीक है, वही एक दूसरी तरह से उस सब चिन्तन के बारे में भी ठीक है जिसका मूल उस भावना में है जो यह मान कर चलती है कि केवल 'मैं' ही हूँ और बाकी सब 'विषय' मात्र है। इस चेतना की संभावना पर सोचने से मनुष्य को यह ज्ञात होगा कि यह बात तभी सच हो सकती है जब कोई अन्य हो, और वह अन्य भी उसी प्रकार की चेतना रखता हो जैसा कि वह स्वयं रखता है।

अगर जिसे मैं ज्ञान के संदर्भ में 'विषय' रूप में देखता हूँ वह नहीं हो तो फिर ज्ञान कैसे हो सकता है? और 'ज्ञान' नहीं है तो ज्ञाता कहाँ होगा? ज्ञाता होने के लिए ज्ञेय उतना ही आवश्यक है जितना कि ज्ञेय के लिए ज्ञाता होना। कितनी अजीब बात है कि ज्ञान के संदर्भ में दोनों मान्यताएँ उतनी ही सहज रूप से सत्य प्रतीत होती हैं जिन्हें दार्शनिकों ने साधारणत: अमान्य माना है। ज्ञेय या विषय अपने को ज्ञाता से उतना ही स्वतंत्र बताता है जितना कि दार्शनिक ज्ञाता को ज्ञेय से स्वतंत्र मानते हैं। पर अगर यह मान भी लें कि दोनों अपने-आप में एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं, यानि दोनों में से किसी को एक-दूसरे की ज़रूरत नहीं है, तो भी यह तो मानना पड़ेगा कि दोनों में यह संभावना निहित है कि वे एक-दूसरे से सम्बन्धित हो सकते हैं। 'जानने' का मतलब यही है, यह नहीं कि चौबीस घण्टे एक-दूसरे को जानते रहें। बेचारे अद्वैतियों को लगता है इसी डर ने सताया था कि चेतना में किसी को 'विषय' रूप में जानने की संभावना को भी स्वीकार कर लिया जाये तो वह बेचारी सदैव ही विषयग्रस्त हो जायेगी, उससे कभी भी उसे छुट्टी नहीं मिलेगी। उनके शब्दों में कहें तो, वह कभी भी 'विषय' से, अन्य से नहीं पायेगी।

ज्ञान के संदर्भ में एक बात और है जो ऐसा लगता है कि अधिकतर दार्शनिकों को कभी भी याद नहीं आती, और वह यह है कि विषय भी ज्ञाता हो सकता है और ज्ञाता स्वयं किसी अन्य के ज्ञान का विषय बन सकता है। और अगर यह बात सच है तो ज्ञाता होना कोई इतनी बड़ी बात नहीं है और विषय रूप में जाना जाना उतनी घटिया बात नहीं है जितना दार्शनिक मानकर चलते हैं। आख़िर किसी ने हमारी तरफ देखा तो उससे हमारा क्या घट गया और अगर देखकर तारीफ की तो हमको अच्छा ही लगेगा, फिर चाहे हम दार्शनिक ही क्यों न हों! संत हों या दार्शनिक, अद्वेती हों या कुछ और, अपनी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तारीफ सबको अच्छी लगती है, भगवान को भी। इसीलिए शायद हज़ारों स्तोत्र लिखे गये हैं, विष्णु सहस्रनामा का पाठ होता है, शिवसहस्रनामा का जप होता है। इन बातों पर दार्शनिक लोग ध्यान नहीं देते क्योंकि इनकी ओर ध्यान देना या इनकी चर्चा करना 'अदार्शनिक' समझा जाता है। ज्ञान की बात छोड़ दें और उसकी बात करें जिसमें सब लोग 'जीते' हैं; और जो चेतना का सहज लक्षण है, शायद व्यावर्तक लक्षण भी। जो अचेतन है या जड़ है उसका लक्षण यह नहीं हो सकता कि वह जानता नहीं है, बल्कि यह है कि उसे सुख-दुःख की प्रतीति नहीं होती, उसमें इच्छा नहीं होती, उसमें प्रेम नहीं जागता, वह कुछ करना नहीं चाहता। इन बातों को कुछ और तरह से भी कहा जा सकता है, लेकिन उनके द्वारा जिस बात को कहने की चेष्टा की जा रही है वही चेतना का व्यावर्तक लक्षण है, और अगर इस व्यावर्तक लक्षण की ओर ध्यान दें तो इसमें 'अन्य' अनिवार्य रूप से उपस्थित है। यह लक्षण चेतना के उस सम्बन्ध को बताता है जो अनिवार्य रूप से किसी दूसरी चेतना को स्वतंत्र सत्ता के रूप में मानकर चलती है।

चेतना का अर्थ ही यह है कि वह अनेक अन्य चेतनाओं के बीच में अवस्थित है, उनसे सम्बन्धित है और सम्बन्ध के सहारे ही वह अवस्थित है। परन्तु ये सम्बन्ध स्वयं में कोई जड़ सम्बन्ध नहीं हैं, गणित के जैसे सम्बन्ध नहीं हैं, प्राणवान् सम्बन्ध हैं और इसीलिए इस सम्बन्ध को उस प्रकार नहीं समझा जा सकता जैसे विज्ञान जड़ पदार्थों के बीच सम्बन्धों को समझने की कोशिश करता है।

चेतना स्वयं अनेक प्रकार की होती है, उसके अनेक रूप हैं। अगर अपने चारों तरफ देखें, पशु-पक्षियों की बात छोड़ भी दें, मानव-जगत् में ही इतना वैविध्य दिखाई देता है कि उनको एक ही प्रकार से चेतन मानना उनके वैशिष्ट्य के साथ अन्याय करना होगा। किसी संत से मिलिए तो क्या ऐसा नहीं लगता कि वह किसी और तरह का प्रांणी है, आप जैसा नहीं! ऐसा साधारण मनुष्य के साथ भी हो सकता है। आप उससे मिलते हैं तो वह एकदम ऐसा लगता है कि यह आदमी कुछ खास है, कुछ अन्य प्रकार का है, मेरे से कहीं अधिक 'ऊँचा'।

ऐसे अनुभव साधारण हैं, हरेक को होते हैं, पर इनकी ओर हम ध्यान नहीं देते। कहने का आशय यह है कि 'चेतना' एक ही प्रकार की नहीं होती, और चेतनाओं में सम्बन्ध इस 'प्रकार-भेद' से ही बनते और बिगड़ते हैं। इसी की बात परम्परा ने एक अन्य संदर्भ में `अधिकार-भेद` के नाम से कहने की कोशिश की है। पर, अधिकार-भेद वास्तव में मनुष्यों में कोटि-भेद को उत्पन्न करता है और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कुछ ऊँचे-नीचे होने का आभास देता है। यही नहीं, वह एक अन्य भ्रम भी उत्पन्न करता है जो वास्तव में मनुष्य और मनुष्य के बीच सम्बन्ध पर मूल आघात करता है। वह कुछ ऐसा कहने की कोशिश करता है कि मनुष्यों के बीच कोई ऐसा मूलभूत भेद है जो एक को बड़ा या ऊँचा और दूसरे को छोटा या नीचा बनाता है। यही शायद वर्ण-व्यवस्था के मूल में रहा है और इसी ने भारतीय समाज में उस 'भेद' को जन्म दिया है जिसको लेकर आज सब चिन्तित हैं और जिसके कारण ही ऐसा प्रतीत होता है कि सारा समाज जाति-भेद को चाहने पर भी भुला नहीं सकता।

अधिकार-भेद का अर्थ कुछ और भी है, पर साधारण समझ में उसे इसी प्रकार लिया गया है। दो बातें इस प्रकार को समझने में भुला दी गयी हैं। एक यह है कि कोई भी व्यक्ति प्रत्येक आयाम में दूसरे से बड़ा या छोटा नहीं होता, हरेक का अपना कर्म-कौशल होता है जिसमें वह दूसरों को कुछ सिखा सकता है। और अगर हम मनुष्यों को इस 'सीखने-सिखाने' के संदर्भ में देखें तो हरेक दूसरे से हमेशा कुछ न कुछ सीख सकता है और इस प्रकार देखने पर मनुष्यों के बीच का सम्बन्ध उस प्रकार का रह ही नहीं सकता जहाँ एक व्यक्ति दूसरे को इस तरह से देखे कि वह हर प्रकार से उससे छोटा या नीचा है।

लेकिन इससे भी गहरी ग़लती उस दृष्टि में यह है कि वह यह भूलकर चलती है कि जो कुछ भी है उसका उस परम सत् से सीधा सम्बन्ध है और उस सम्बन्ध में न कोई पास है न कोई दूर, न कोई छोटा है न कोई बड़ा, उस 'सत्' के लिए सब समान हैं। 'भेद' की बात व्यवहार-जगत् में होती है, परमार्थ जगत् में नहीं—परमार्थ जगत् में उस भेद को उस प्रकार से लाना है जैसा वह व्यवहार-जगत् में अनिवार्य रूप से उपस्थित है। यह इतनी बड़ी ग़लती है कि इसके लिए किसी प्रायश्चित की भी व्यवस्था नहीं हो सकती।

व्यवहार और परमार्थ का भेद भारतीय परम्परा के मूल में अवस्थित है, लेकिन उसने शायद इस भेद को ठीक तरह नहीं समझा। पहली बात तो यह है कि व्यवहार-जगत् में स्वयं अनन्त भेद हैं। दूसरी ओर परमार्थ-जगत् में भी भेद कम प्रतीत नहीं होते। इसके अलावा परमार्थ और व्यवहार के सम्बन्ध के बारे में कोई निश्चित बात कहना असंभव है, क्योंकि वह सम्बन्ध ईश्वर और जगत् के बीच का सम्बन्ध है, या जो त्रिकालातीत है उसका काल से सम्बन्ध है, और इस सम्बन्ध को न बुद्धि समझ सकती है न कोई और शक्ति जो मनुष्य के पास है। पर इतना हरेक जानता है कि यह सम्बन्ध है, और इसके सहारे ही और सब सम्बन्ध खड़े हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अगर इन सम्बन्धों के बारे में मनुष्य अपनी आत्मचेतना में यह दृष्टि कुछ हद तक आत्मसात् कर भी ले तो उसकी दृष्टि में, उसके व्यवहार में, उसके भाव-जगत् में जो परिवर्तन आयेगा उससे उसका सबसे सम्बन्ध अधिक सार्थक ही बनेगा क्योंकि तब उसके लिये अन्य अन्य नहीं रहेगा और स्वयं के बारे में वह आत्मचेतना नहीं रहेगी जिसने उसे जगत् से विच्छिन्न कर दिया है

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।। **भगवद्गीता, 6/30**

❑

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

काव्य[1] का याथार्थ्य•

यशदेव शल्य

'अर्थ' शब्द का एक अर्थ वस्तु भी होता है और 'यथार्थ' शब्द में 'अर्थ' उसी का वाचक है। इस प्रकार 'यथार्थ' शब्द अर्थ के अनुरूप, वस्तु के अनुरूप, वास्तविक, का वाचक है। किन्तु अर्थ के, वस्तु के अनुरूप या प्रतिरूप होने का क्या अर्थ है? ऐसा कुछ हो कैसे सकता है जो वस्तु के अनुरूप नहीं हो? यह एक बड़ा गंभीर और दुरूह प्रश्न है। किन्तु यह प्रश्न नहीं उठाएं तो यह एक साधारण-सी बात है। हमें प्राय: ही भ्रम होता है, संशय होता है। विश्वास भी होता है जिसकी पुष्टि भी होती है। यह स्थिति याथार्थ्य और अयाथार्थ्य की स्थिति उत्पन्न करती है। इसमें चेतना और वस्तु का, अर्थ का, द्वैत गृहीत है। 'रज्जु को सर्प देखना' हमारे दार्शनिकों का एक सर्वप्रिय उदाहरण है। किन्तु यह लौकिक उदाहरण अलौकिक भ्रान्ति को समझाने के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा है—ब्रह्मस्वरूप आत्मा को लोकस्वरूप देखने की भ्रान्ति के लिए। किन्तु यें दो बिल्कुल अलग तरह की भ्रान्तियां हैं। रज्जु और सर्प जबकि दर्शक : चेतना : से भिन्न और बाहर दो पृथक् सत्ताएं हैं और इस प्रकार वस्तु : अर्थ : होने की अपेक्षा को पूरा करती हैं, आत्मा और ब्रह्म इस प्रकार की सत्ताएं नहीं हैं, कम से कम आत्मा तो स्पष्टत: ही नहीं है और इस प्रकार अर्थ होने की अपेक्षा की पूर्ति नहीं करती। किन्तु यह भी एक साधारण बात है कि हमें अपने सम्बन्ध में बहुत सी भ्रान्तियां होती हैं। पीछे फ्रायड ने तो इसे लेकर एक चिकित्सा-विधि ही रच दी थी, जिसे 'रचना' के बजाय 'खोज' ही कहा जाता है। अर्थात् ऐसी वस्तु को ढूंड निकाला था जो हमारी दृष्टि से ओझल पड़ी थी। आत्मगत भ्रान्तियों और संशयों के और भी अनेक प्रकार और प्रसंग होते हैं। जैसे "क्या मेरे मन में ऐसा विचार, ऐसी भावना का आना उचित है?" "क्या मेरी यह युक्ति तर्कसंगत है?" "मेरी यह कविता जमी नहीं।" ये सब भी भ्रान्ति, संशय, अपने से अपने कम रह जाने (जैसे कविता-रचना में) के उदाहरण हैं। साँप में रस्सी का भ्रम तो क्षण भर में निवृत्त हो जाता है और इसकी जाँच की सहज-सरल विधि भी उपलब्ध रहती है, किन्तु

• यह लेख माध्यम पत्रिका के अप्रेल-जून, 2001 अंक में भी प्रकाशित हुआ। किन्तु उसमें मुद्रण में कुछ व्यतिक्रम हो जाने से और कुछ और बड़ी अशुद्धियां रह जाने से वहां इसका प्रकाशन व्यर्थ हो गया।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आत्मा विषयक भ्रांतियां और संशय दुर्निवार्य और कभी-कभी अ-निवार्य होते हैं। इस पर कहा जा सकता है कि वस्तु की वास्तविकता, अर्थ की यथार्थता तो इन्द्रिय से ही प्रकट होती है, युक्ति-विषय, विवेक-विषय आदि की कोई स्वतंत्र अर्थता नहीं होती। किन्तु तब इन्द्रिय विषय की अर्थता भी इन्द्रिय से पृथक् कोई नहीं होती यह सहज ही देखा जा सकता है : आंख नहीं होने पर वर्ण नहीं रहते, बहरापन होने पर ध्वनियां नहीं रहतीं, त्वक् नहीं रहने पर शीतोष्णता और कोमलता-कठोरता आदि नहीं रहतीं। इसी से वैज्ञानिक भी इन्हें वस्तुगत धर्म नहीं मानते। किन्तु तब भी विज्ञान को ही यथार्थ ज्ञान का एकमात्र प्रमापक मानने वाले एकमात्र इन्द्रियमूलक ज्ञान को ही यथार्थ मानते हैं और शेष को काल्पनिक मानते हैं।[2] इसमें चेतना और अर्थ : वस्तु : का द्वैत पूर्वगृहीत है और इसके साथ यह भी पूर्वगृहीत है कि चेतना से इतर : अर्थ : इन्द्रियों को ही गम्य होते हैं। वे यह नहीं देखते कि इन्द्रियों को प्रदत्त **वस्तु का स्वरूप** भी इन्द्रियों को गम्य नहीं होता, वह भी बुद्धि पर ही प्रकट होता है।

सभी अर्थ, वे चाहे विमर्श-विषय हों चाहे विवेक-विषय, और चाहे प्रतिभा-विषय, चेतना को बाह्यत: ही प्रस्तुत होते हैं और उससे अपनी ओर उन्मुख होने की अपेक्षा करते हैं। 'पानी आग पर रखने पर क्यों उबलता है?' इस जिज्ञासा का विषय उतना ही जिज्ञासा से बाहर होता है जितना 'क्या यह पानी है?' इस जिज्ञासा का विषय। इसी प्रकार, 'क्या मेरा यह कार्य उचित था?' 'वस्तु का सौन्दर्य क्या वस्तुगत होता है या कि हृदयगत?' इन जिज्ञासाओं के विषय भी जिज्ञासा से स्वतंत्र ही होते हैं। इनमें दूसरे प्रश्न को देखें। यहां सौन्दर्य के ऐन्द्रिय वस्तुगत होने या हृदयगत होने का प्रश्न निर्णय है और निर्णय का प्रसंग तभी उपस्थित हो सकता है यदि दोनों में भेद स्पष्ट नहीं हो। यहां कम से कम यह अभेद स्पष्ट है कि 'ऐन्द्रिय वस्तुगत' और 'हृदयगत' दोनों गुण जिज्ञासा के लिए समान रूप से बहि:स्थित हैं। जिज्ञास्यों की इस बहि:स्थिति का मूल चेतना की आत्मचेतनता में है। अर्थात् चेतना के अपने को अपना विषय बनाने में। इस पर कहा जा सकता है कि आत्मचेतन तो केवल मनुष्य की चेतना ही होती है किन्तु विषय तो पाशव चेतना के लिए भी बहिर्गत ही होते हैं। यह सही है। किन्तु उस चेतना के विषय जिज्ञास्य नहीं होते, वे मात्र नियोजक होते हैं, वे चेतना को अपने प्रति नियुक्त करते हैं और इस प्रकार चेतना वहां विषय से इतर नहीं रहती, अथवा कहें विषय वहां चेतना के लिए इतर नहीं रहते, चेतना उनमें तत्सात् रहती है।

अब, ज्ञान के अनेक रूप या प्रकार हैं और उन्हीं के अनुरूप विषयों के प्रकार भी रहते हैं। आप चाहें तो उलट प्रकार से भी कह सकते हैं, कि विषयों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के अनेक प्रकार हैं और तदनुसार ज्ञान के भी हैं। इस तरह इन्द्रियों से हम पत्थर आदि को देखते हैं, वनस्पतियों, पशु-पक्षियों और मनुष्यों को देखते हैं। ये सब इन्द्रिय-विषय हैं, किन्तु ये उतने मात्र नहीं होते। यहां तक कि मनुष्यों को ही नहीं पशु-पक्षियों तक को भी हम इन्द्रियविषयता के उदाहरणों के रूप में नहीं देखते। अब, यदि मनुष्य इन्द्रियविषय होने पर भी उसके सही उदाहरण के रूप में देखा जाने के योग्य नहीं है तो पत्थर आदि ही क्यों हैं? पत्थर इन्द्रियविषयता का इसलिए उपयुक्ततम उदाहरण है क्योंकि उसका इन्द्रियगम्य से आगे और कोई सत्त्व नहीं है। किन्तु वास्तव में पत्थर का सत्त्व भी इन्द्रियगम्यता मात्र में निश्शेष नहीं होता। किन्तु द्रष्टव्य है कि दार्शनिकों ने इन्द्रियविषय के उदाहरण रूप में घट-पट आदि का ही उल्लेख किया है। इसके सम्बन्ध में हमने अन्यत्र[3] दिखाया है कि कैसे ये उदाहरण ठीक नहीं हैं। वहीं हमने यह भी दिखाया है कि वास्तव में प्रस्तर आदि भी इन्द्रियविषयता मात्र में निश्शेष नहीं होते। ऐन्द्रिय प्रस्तुति वास्तव प्रस्तुति के लिए संकेत मात्र होती है। अब, घट को लें। यह कुंभकार की रचना होता है, मिट्टी मात्र नहीं होता। इस प्रकार यह मिट्टी में घटत्व का अवतरण होता है जो कुंभकार की चेतना में आविर्भूत होता है और उसके हाथ और चाक आदि के माध्यम से मिट्टी को अपना उपादान बनाता है। इसके लिए मिट्टी का होना एक अनुषंग मात्र है, वह किसी धातु का भी हो सकता है। अब, मिट्टी, धातु आदि साधारण रूप में दृक् और त्वक् दो इन्द्रियों के विषय होते हैं और घट का चित्र भी इन दो इन्द्रियों का ही विषय होता है। किन्तु दूसरे में उसकी त्वक्-ग्राह्यता उससे असम्बद्ध होती है। इन्द्रिय-प्रदत्त इन दो 'घटों' को यह स्थिति अर्थतः भिन्न कर देती है और इन्द्रिय-प्रदत्तता को इन अर्थों के लिए एक गौण संकेत मात्र सिद्ध कर देती है। 'मानव-व्यक्ति' विषय की ऐन्द्रिय प्रदत्ता में दो से भी अधिक ऐन्द्रिय प्रस्तुतियां हो सकता है, किन्तु मनुष्य की ऐन्द्रिय प्रस्तुतियां उसकी मनुष्यरूपता के लिए अप्रासंगिक होती हैं। अब, कुछ सामने आये व्यक्ति के रूप-रंग की ओर अधिक ध्यान देते हैं और दूसरे उसकी भंगिमाओं को भी देख पाते हैं। किन्तु कुछ इन दोनों को उनकी समग्रता में मात्र संकेत के रूप में ही लेते हुए उस व्यक्तित्व का साक्षात्कार करते हैं जो बाह्य रूप और भंगिमा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाता है। अब, ये तीनों अर्थ हैं और इनका अपना-अपना याथार्थ्य है। किन्तु द्रष्टव्य है कि सब अर्थों की अर्थता उनके याथार्थ्य से ही तय होती है, याथार्थ्य अर्थता से नहीं, क्योंकि याथार्थ्य के बिना अर्थ अपने आपसे कुछ होता ही नहीं। इसके लिए कांट की स्वलक्षण वस्तु (थिंग इन-इट्सेल्फ) अच्छा उदाहरण हो सकती है जो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इन्द्रियगम्य अर्थों : वस्तुओं : का आधार अर्थ : वस्तु : होने पर भी इन्द्रियग्राह्य एक भी गुण या धर्म से युक्त नहीं है—न वर्ण, गन्ध, काठिन्य आदि से और न देश-काल तक से भी। हेगल ने उसे इसीलिए निरर्थक घोषित कर अपनी दर्शन-व्यवस्था से उसे हटा दिया। एक अन्य लेख[4] में हमने **ईशावास्य उपनिषद्** का एक अत्यन्त अर्थ-गर्भ मंत्र उद्धृत किया था—कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। अब, कवि-मनीषी ईश्वर द्वारा सब अर्थ यदि उनके याथार्थ्य के अनुसार व्यवस्थित नहीं किये जाएं तो कोई अर्थ हो ही नहीं। सब वस्तुएं अपने वस्तु-धर्म के अनुरूप होने पर ही वस्तुएं हो सकती हैं नहीं तो रज्जु-सर्प के समान भ्रांति-जन्य अथवा आकाश-कुसुम के समान अलीक होंगी।

अब, मनुष्य इसी ईश्वर-प्रदत्त याथार्थ्य का अपनी सामर्थ्य के अनुसार अन्वेषण करता हो या स्वयं उसकी चेतना में ही अर्थों का अवतरण होता हो और वह उनके याथार्थ्य का अन्वेषण करता हो, कोई अर्थ याथार्थ्य के बिना, अथवा कहें याथार्थ्यतः व्यवस्थित हुए बिना, स्वरूपवान् नहीं हो सकता।

यहां याथार्थ्य के सम्बन्ध में एक स्पष्टीकरण अनिवार्य है। हमने ऊपर कहा कि अर्थों को याथातथ्य या तो ईश्वर प्रदान करता है या वह स्वयं मानव-चेतना में ही आविर्भूत होता है। वास्तव में ईश्वर भी यदि कवि और मनीषी है तो वह भी अर्थों को मनमाने नहीं रच सकता, न उन्हें मनमाने याथातथ्य दे सकता है। वह भी उनका अतिक्रान्ततः साक्षात्कार ही कर सकता है। इसी साक्षात्कारिता के कारण वह मनीषी और कवि है। यह सब अर्थों और उनसे संबद्ध याथार्थ्यों के सम्बन्ध में सही है। वैज्ञानिक भी जिस भौतिक याथार्थ्य का अन्वेषण करता है वह प्रथमतः अपने को उसकी चेतना में प्रागनुभविक रूप से ही प्रकाशित करता है और वह उस प्रकाश की दिशा में, उसी से संकेत ग्रहण कर उसके आनुभविक अन्वेषण में प्रवृत्त होता है। अन्यथा भौतिक प्रकृति की एकता और उसकी समग्रता को धारण करने वाले नियम की विद्यमानता का बोध आनुभविकतया कैसे ग्राह्य हो सकता है? इसीलिए अनुभववादी दार्शनिक और उस भ्रांत दृष्टि से निगृहीत वैज्ञानिक इस एक नियम की धारणा को व्यवहार-सौकर्य के लिए स्वीकृत अभ्युपगम मात्र के रूप में देखते हैं, उसे वास्तव नहीं मानते। किन्तु उनकी इस मान्यता के लिए कोई युक्ति नहीं है। वास्तव में मानव-चेतना सीमित है—अर्थात् अपने-आप से वियुक्त, अपने-आप में व्यवहित चेतना। इसलिए वह अर्थों के याथार्थ्य का संकेत भर ही पाती है, जिसे पाकर वह उस व्यवधान को क्रमशः दूर करने में अग्रसर होती है जो अर्थों के याथातथ्य को उससे आवृत रखता है। इस संकेत-ग्रहण में हम भ्रान्त

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भी हो सकते हैं। रज्जु को सर्प देखना इसका स्थूलतम उदाहरण है जो हम प्रायः अपवाद रूप में ही देखते हैं, किन्तु बुद्धि, विवेक और प्रतिभा आदि विषयक अर्थों के अनर्थ को हम उनका याथार्थ्य प्रायः ही माने रहते हैं। इसे इस प्रकार देखें—चूल्हा, चक्की का आविष्कार भौतिक अर्थ के याथार्थ्य-दर्शन से सिद्ध होता है, दूरदर्शन, वायुयान आदि इस याथार्थ्य के और गहनतर दर्शन से सिद्ध होते हैं। इस सिद्धि की क्रमिकता हमारी चेतना की इस पक्ष में आवरण-मुक्ति की क्रमिकता की द्योतक होती है। किन्तु यह आवरण-मुक्ति दूसरे पक्षों में अयथार्थ को यथार्थ समझने की हेतु भी हो सकती है। उदाहरणतः भौतिक विज्ञान के रूप में सिद्ध आवरण-मुक्ति इस गहनतर आवरण की हेतु बनी कि केवल इन्द्रियगम्य अर्थ ही यथार्थ अर्थ हैं, शेष अर्थ अयथार्थ हैं।

इस प्रकार अर्थों के अनेक रूप हैं और वे अपने-अपने याथार्थ्य में प्रतिष्ठित होते हैं। साधारणतः हमें सभी अर्थ विषयतया ही प्रस्तुत होते हैं, यहां तक कि स्वयं हमारी आत्मा भी। इस प्रकार हमारा आत्मसाक्षात्कार भी विषय रूप में प्रस्तुत आत्मा का ही साक्षात्कार होता है। किन्तु चेतना का निजी जीवन विषयिता का होता है। अर्थों के विषयतया ग्रहण में चेतना विषय-दर्शन भी करती है और विषयितया घटित भी होती है। विषयात्मक अभिवृत्ति में चेतना के लिए अपनी यह ग्राहकता : विषयिता : अगृहीत ही रहती है—''ज्ञातारं रे, केन विजानीयात?'' अनात्मचेतन जीव अपने को कभी देखता ही नहीं—वह अपने को कभी आत्म-प्रत्यय-गोचर नहीं होता। किन्तु वह 'होता' तो है ही और चेतन रूप में ही होता है। इसे उसकी 'विषयिता का होना' या विषयितया होना भी कह सकते हैं। किन्तु आत्मचेतन चेतना का यह भी वैलक्षण्य है कि वह अपने इस विषयितया होने को, उसके विषयकरण के बिना, उसकी विषयिता में भी अवधारण कर सकती है। इसे आप चाहें तो आत्म-प्रकाशन, आत्माभिव्यक्ति भी कह सकते हैं। अन्यत्र[5] हमने इसे ''विषयिता का विषयिता-प्रत्यय रूप में भावन'' कहा है। विषय-वृत्ति में जबकि चेतना अपने को भी पर-रूप में जानती है, विषयितया भावन में वह पर की विषयिता से भी तादात्म्य स्थापित कर सकती है। यों तो अनात्मचेतन चेतना में भी 'चेतना का घटित' होना संवेदात्मक मात्र नहीं होता, क्योंकि वह चेतना भी जीवन के विभिन्न व्यापारों में विविध रूप से आकारित होती है, किन्तु मनुष्य की चेतना स्मृति, भाषा, विमर्श, विवेक, प्रतिभा आदि अनेक शक्तियों से मंडित होने के कारण और इन सब शक्तियों में उसके आत्मचेतन होने के कारण वह अर्थ-राशि की अतल और अपार निधि हो पाती है। इन सब ज्ञान-रूपों में इसकी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आत्मप्रकाशित विषयिता को भावना या अनुभूति कहते हैं। ये भावनाएं एक आवयविकता में अधिष्ठित होती हैं जिसे हम 'एक व्यक्ति का जीवन' कह सकते हैं। काव्य का विषय ये भावनात्मक अर्थ या जीवन ही होते हैं।

ऊपर हमने आत्मचेतन चेतना को अतल और अपार अर्थ-राशि की निधि कहा। यहां 'अर्थ' शब्द 'शब्द-वाच्य अभिप्राय' या 'आशय' का वाचक भी हो सकता है किन्तु यहां हम इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं कर रहे हैं। यहां हम इसका प्रयोग 'अवगमन-व्यापार द्वारा लक्षित तत्त्व' के लिए ही कर रहे हैं, जो इस अर्थ में इस व्यापार से अतिक्रान्त होते हैं कि वह अवगमन इनकी अपेक्षा से सत्य या असत्य होता है और इस प्रकार वे अर्थ इस व्यापार के सापेक्ष या कहें अंतर्गत गुण नहीं होते। इन अर्थों की अतलता और अपारता पुन: इन अर्थों की अतिक्रान्तता की ही द्योतक होती है। किन्तु इनका यह लक्षण इन्हें चेतना से भिन्न भौतिक नहीं बना देता। अब, अर्थों की यह अनवगाह्यता विषयिता के पक्ष में उतनी ही होती है जितनी विषयता के पक्ष में, केवल विषयिता के पक्ष में यह अधिक गुह्य, अधिक स्तब्धकारी होती है। विषयता की परमता भौतिकता में लक्षित होती है। इस भौतिक विषयगत अर्थ की अनवगाह्यता इसके औपादानिक उपयोग और एतद्विषयक वैज्ञानिक अनुसंधान की अनन्तता में लक्षित होती है। किन्तु यह विषयता उतनी ही मनोविज्ञान, समाजविज्ञान और इतिहास में भी होती है। केवल यहां यह भेद होता है कि ये विषय मनुष्य विषयक होते हैं जिसका विषयिता का पक्ष उसके विषयता के पक्ष से कहीं अधिक गुरु होता है, क्योंकि उसकी स्वकीय विषय-वृत्ति इन अध्ययनों के लिए उसकी विषयिता से निरपेक्ष नहीं होती। उदाहरणत: जो मनोविज्ञान 'मन' को 'व्यवहार' के पर्याय के रूप में ही अपने अध्ययन का विषय बनाता है वह मन के यथार्थ के सम्बन्ध में भ्रान्त ही रह सकता है। क्योंकि यह व्यवहार उस मनुष्य का होता है जो स्वयं उस व्यवहार का प्रेक्षक भी होता है और जो इस व्यवहार के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रान्त भी हो सकता है, अथवा स्वयं अभ्रांत रह कर दूसरों को भ्रम में डाल सकता है, अथवा किसी व्यवहार से अपने को रोक सकता है। इसी से कुछ इतिहास-दार्शनिकों ने तो इतिहास-लेखन में विषयिता के पक्ष में अन्त:प्रवेश को भी अनिवार्य माना है।[6] किन्तु तब भी मनोविज्ञान और इतिहास में अन्य की विषयिता भी विषयतया ही ग्राह्य होती है, जैसे वह व्यक्ति के आत्म-विवेचन में भी होती है। इस प्रकार इतिहास में सम्राट् अशोक या चन्द्रगुप्त मौर्य देश, काल, परिस्थिति और कारण-कार्य-व्यवस्था के अधीन ही लक्षित होते हैं। इसके विपरीत महाकाव्य के नायक राम किसी देश-काल-परिस्थिति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

से निरपेक्ष उसके अधिष्ठाता के रूप में लक्षित होते हैं। **रामायण** में कवि उन्हें देश-काल-पारिवारिक-सामाजिक परिस्थिति में नहीं देखता और न ही उस दृष्टिगत का विवरण देता है, वहां वह परकाय-प्रवेश करता और रामायत होता है। राम की यह काया भी भौतिक नहीं होती, वह चैत्त-काया : चैत्त विग्रह : की बाह्य अभिव्यक्ति मात्र होती है, जैसे भाषा में ध्वनि अर्थ की, और चित्र में रंग-रेखा भाव की अभिव्यंजक मात्र होती हैं। किन्तु वास्तव में काव्य में यह चैत्त विग्रह भी काव्य-वाच्य अर्थ नहीं होता : काव्यगत राम का याथार्थ्य राम-प्रत्यय ही होता है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए कवि दूसरे ही आयाम में चैत्त और भौतिक विग्रहों का, और उस संपूर्ण लोक का जो रामायण महाकाव्य का रूप लेता है, सर्जन करता है। राम का याथार्थ्य रामत्व-प्रत्यय होने के कारण ही विभिन्न रामायणों की रचना संभव हो सकी, असंख्य नाटक, नृत्य, गीत, चित्र और मूर्त्तियां रची जा सकीं जो उस प्रत्यय को केवल अंशत: ही व्यक्त करती हैं और उससे केवल अंशत: ही सम्यक् होती हैं। वह प्रत्यय अपनी महिमा में अनवगाह्य और अपरिमेय ही बना रहता है। द्रष्टव्य है कि यों सभी व्यक्ति अपने मूल रूप में प्रत्यय ही होते हैं[7] जिन्हें चरितार्थ करने के लिए भौतिक और चैत्त विग्रहों का आविर्भाव होता है, किन्तु इन व्यक्तियों के ये विग्रह देश, काल, कारण-कार्य-सन्तति और परिस्थिति के भी विषय होते हैं और इस प्रकार वे भौतिक और चैत्त यथार्थ भी होते हैं, यद्यपि केवल आनुषंगिक रूप में ही। इतिहास व्यक्ति या व्यक्तियों के मुख्यत: इसी : भौतिक और चैत्त : अर्थ को अपना विषय बनाता है किन्तु काव्य सीधे मूल प्रत्यय को ही लक्षित करता है और उसके अलौकिक लोकावतरण के लिए चैत्त विग्रह की कल्पना से रचना करता है। द्रष्टव्य है कि ये प्रत्यय अपने याथार्थ्य में विभिन्न रूप और गुण-युक्त होते हैं और अपने अर्थ : आशय : की विपुलता में विभिन्न आयतनों वाले होते हैं। इस प्रकार केवल वाल्मीकि के राम ही ऐसे हो सकते थे जो अद्वितीय लावण्यमय तन वाले, परम दुःखद परिस्थितियों में भी अविचल और उदात्त, विचलन में भी गौरवान्वित, अतुल बलवान् रावण को पराभूत करने वाले किन्तु पराभूत रावण की मृत्यु पर अश्रु-पूरित थे। इसी प्रकार **गीता** का उपदेश केवल कृष्ण ही कर सकते थे, **गोदान** का होरी, **अंतिम अरण्य** के मेहरा साहिब या **पूर्वापर**[8] का बंटू नहीं। साधारण रूप से, बाह्यत: देखें तो, राम के जीवन में ऐसा कुछ घटित नहीं होता जो स्वयं में बहुत महत् हो किन्तु उनका जीवन **अपने होने मात्र** में ही अव्याख्येय रूप से हिमालय के समान उत्तुंग और सागर के समान गंभीर है। यह 'होने मात्र में ही' महत् राम की उदात्तता और गंभीरता उस सबको अन्तर्व्याप्त करती है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जिसमें वे घटित होते हैं। इसके विपरीत **गोदान** उपन्यास के होरी का 'होना' उस अपार दैन्य और दारिद्र्य का 'होना' है जो भारतीय कृषक-जीवन का अन्त:सार है। यहां कहा जा सकता है कि 'राम का याथार्थ्य' वाल्मीकि की कल्पना के तत्कालीन भारतीय सांस्कृतिक आदर्श का सम्यक् प्रतिबिम्ब होने से और 'होरी का याथार्थ्य' प्रेमचन्द की कल्पना के तत्कालीन भारतीय कृषक-जीवन का सम्यक् प्रतिबिम्ब होने से है। राम-प्रत्यय और होरी-प्रत्यय स्वयं में कोई वस्तुएं, कोई अर्थ, या किन्हीं स्वतंत्र अर्थों में प्रतिफलित याथार्थ्य नहीं हैं। मान लें। किन्तु तब यह मानना होगा कि 'रामायणकालीन भारतीय सांस्कृतिक आदर्श' और 'प्रेमचन्दकालीन भारतीय कृषक-जीवन का दारिद्र्य' कोई अर्थ हैं जिनके साक्षात्कार वाल्मीकि और प्रेमचन्द ने प्रत्यय रूप में किये और उन प्रत्ययों को क्रमश: राम-कथा और गोदान-कथा के रूप में रचा। किन्तु तब मेहरा साहिब और बंटू के सम्बन्ध में क्या कहा जायगा? वास्तव में राम-कथा और गोदान-कथा के सम्बन्ध में यही कहना अधिक युक्त है कि वे अर्थों के प्रत्यय-रूप में साक्षात्कार हैं और इसी प्रकार के अर्थों के प्रत्ययन मेहरा साहिब और बंटू में मूर्त्तित होते हैं जो राम-कथा, गोदान-कथा, अन्तिम अरण्य-कथा और पूर्वापस-कथा के वाच्य हैं। ये काव्य-रचनाएं ठीक ईश्वरीय जगद्रचना के अनुरूप हैं जिसकी ओर **ईशावास्य उपनिषद्** के उपर्युक्त मंत्र का संकेत है। यहां ईश्वर के नाम से घबराने या चौंकने की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि जैसाकि हमने पीछे कहा, सृजनात्मक साक्षात्कार-विषय अर्थ कवि या ईश्वर की चेतना में अतिक्रान्त रूप में ही आविर्भूत होते हैं और कवि या ईश्वर को अपना माध्यम ही बनाते हैं। वही साक्षात्कार्य अर्थ दार्शनिक के चित्त के माध्यम बनने पर अमूर्त्त-अरूप सिद्धान्त का रूप लेते हैं और धर्म-चेता के चित्त के माध्यम बनने पर कर्म-क्षेत्र का रूप लेते हैं। साक्षात्कार के माध्यम के इस तीसरे रूप के अत्यन्त स्पष्ट उदाहरण बुद्ध, अशोक और गान्धी प्रस्तुत करते हैं। यों साधारण रूप से साधारण स्तर पर ऐसे साक्षात्कार प्रत्येक व्यक्ति की चेतना में सदसद्-विवेक के रूप में रूपायित होते ही रहते हैं।

× × ×

ऊपर हमने काव्य पर विचार करते हुए कथात्मक काव्य के ही उदाहरण लिए, ऐसे अकथात्मक काव्य के नहीं जिसमें कवि सीधे भावना, विचार या स्थिति विशेष के ही अन्त:सार का साक्षात्कार करता है। काव्य के इस पक्ष को ध्यान में रखते हुए हमने अन्यत्र[9] विस्तार से विचार किया है। इस प्रकार के काव्य में कवि भावना या भावित विचार या स्थिति विशेष के अन्त:सार का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रत्ययन कर उसे अभिव्यक्ति देने के लिए या तो शब्द-बिम्बों की रचना करता है अथवा बाह्य स्थितियों को ही व्यंजक रूप में रचता है। यहां कुछ उदाहरण देना उपयोगी होगा—

1. मत जा, मत जा, मत जा, जोगी! पाँव पड़ूं मैं तोरे!
जल-बल भई राख की ढेरी, अपने अंग लगा जा, जोगी! (मीरा)

2. हम बासी उस देस के, जहँ पार-ब्रह्म का खेल,
दीपक जरै अगम्य का, बिन बाती बिन तेल,
हद्द छाँडि बेहद भया, रहा निरन्तर होय,
बेहद के मैदान में, रहा कबीरा सोय। (कबीर)

3. ओ चिर नीरव, मैं सरित विकल,
तेरी समाधि की सिद्धि अकल
चिर निद्रा में सपनों का पल,
ले चली लास में लय-गौरव। (महादेवी वर्मा)

4. धीरे धीरे उतर क्षितिज से, आ वसन्त रजनी!
तारकमय नव वेणी-बंधन, शीषफूल कर शशि का नूतन,
रश्मिवलय सित घन-अवगुंठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे, चितवन से अपनी! (महादेवी वर्मा)

5. एक सादी चादर / अनकढ़ी / न फूल न पत्ती कहीं
असामान्य की गन्ध से मुक्त- / बबूल के जंगल-सा / ढलता अँधेरा
केतकी का सबेरा फिर / श्वेतमान आकाश।
ताकने लगता वही / पीला मुख / अनगिनत झींगुरों की टेर /
रहती अस्फुट/न कहती रसना कोई/गूंगे का दुख। (गोविन्दचन्द्र पांडे)

6. एक गरीब मुहल्ला / सार्वजनिक नल के नीचे / रात भर ठिठुरते /
खाली बरतन
हाँ/मैंने देखे हैं/जाने कितने सूर्योदय/उनमें/ डबडबाते।
(रमेशचन्द्र शाह)

यहाँ मीरा के गीत ऐसे हैं जैसे मानो अमिश्र उद्वेग का प्रवाह निर्बाध फूट पड़ा हो। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। यह उद्वेग सांस्कृतिक परंपरा में रूढ़ प्रतीकों के माध्यम से रचित हुआ है। किन्तु यह रचना भावना की अपनी विषयिता को ही प्रतीकों में प्रत्ययात्मकतया बिम्बित करती है। इस कविता का याथार्थ्य भावना के अर्थतः (वस्तुतः) घटित होने और कवि-सुलभ साक्षात्कार का विषय होने में है। कविता 2 और 3 में एक विचार का अन्तःसार भावना के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

गुण रूप में अर्थवान् होता है और यह भावना अपनी विषयिता में ही प्रतीकों और रूपकों के माध्यम से सम्प्रेष्य बनती है। चतुर्थ कविता में तारों और चांद से मंडित निशीथ का आकाश सौन्दर्यानुभूति का आलंबन बनता है और यह अनुभूति इस आलंबन को रूपक के रूप में रच कर संप्रेष्य बनती है। यहां सौन्दर्यानुभूति वस्तु या अर्थ है। पांचवीं कविता में दुःख की अनुभूति अर्थ है जो अर्थ अपने विषयि रूप के साक्षात्कार के लिए प्राकृतिक रूपों में अपने बिंब को रचता है। छठी कविता में बाहरी दृश्य बेबसी की मनःस्थिति का व्यंजक बनता है, जो बेबसी कवि की अपनी नहीं है, किसी व्यक्तिविशेष की भी नहीं है, बल्कि कुछ अविशिष्ट यद्यपि तब भी विशिष्ट व्यक्तियों की है जिसके साथ वह भावात्मकतया तदात्म होता है और उस मन:स्थिति को अभिव्यक्ति देता है। यों कवि ने यहां कुछ भी नहीं किया है, एक दृश्य को वर्णनात्मकतया ही प्रस्तुत कर दिया है, किन्तु तब भी यह दृश्य विषय नहीं है, बल्कि विषयितया व्यंजित है। पांडेजी की कविता इससे भिन्न है। वहां भावना को धारण करने के लिए दृश्य की योजना की गई है, जो योजना दृश्यात्मक होने पर भी मानो वहां भावना ने ही दृश्य रूप धारण कर लिया है। इसमें कवि का रचना-कौशल अद्‌भुत है, किन्तु यह क़ौशल दृश्य को अधिकाधिक अदृश्य बनाने में है, दृश्य को आकर्षक बनाने में नहीं। महादेवीजी का रजनी के सौन्दर्य का वर्णन इसके ठीक विपरीत है, किन्तु वह इसलिए क्योंकि वहां रूप का वैभव भावना का ही रूप-वैभव है।

× × ×

ऊपर हमनें जिस वस्तु या अर्थ को काव्य का निरूप्य बताया और जिस अर्थ के प्रति सच्चा होने को उसका यथार्थ कहा वह अर्थ उस यथार्थवाद के अर्थ और याथार्थ्य से सर्वथा भिन्न है जो 18वीं-19वीं शताब्दियों में पाश्चात्य विज्ञान की विजय-दुंदुभी के साथ काव्य और कलाओं के लिए एक नया आदर्श बनकर आया था। इस दृष्टि के अनुसार अर्थ का स्वरूप केवल उसकी इन्द्रियगम्य अथवा उससे सम्बद्ध विषयता से निर्धार्य है और तदनुसार मनुष्य का तत्त्व भी भौतिक-रासायनिक है, उसके आगे किसी और तत्त्व की बात कपोलकल्पना मात्र है। इस दृष्टि के विस्तार के रूप में ही सामाजिक याथार्थ्य की बात भी की गई। कम्यूनिस्टों ने अपने दर्शन को ऐतिहासिक भौतिकवाद कहकर उसका प्रचारक होने को काव्य की यथार्थपरकता बताया और साहित्य का अपना कोई स्वतंत्र अनुसन्धेय अर्थ मानने से इन्कार किया। उनके अनुसार, शोषक-शोषित वर्गों का द्वन्द्व ऐतिहासिक अर्थ का अयाथातथ्य है और उसकी समाप्ति, अथवा कहें शोषक वर्ग का परिभव उसका याथातथ्य। काव्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

का कार्य इस याथातथ्य को स्थापित करने में सहायक होने में है। अन्य सब या तो अनर्थ का, अयाथातथ्य का प्रत्यक्ष साधन बनना है या कपोलकल्पनाओं में काव्य को उलझा कर उसका, अनर्थ का, परोक्ष उपकारी बनना है।

किन्तु स्पष्टतः यह काव्य का साक्षात्कार्य अर्थ नहीं हो सकता, यह मानव-अस्तित्व के सामाजिक आयामगत अर्थ से जुड़ा एक प्रश्न है, इसे तत्संबद्ध अयाथातथ्य भी कह सकते हैं। किन्तु काव्य के लिए यह उसी प्रकार एक बाह्यार्थ है जिस प्रकार पुरुषार्थ विषयक अन्य प्रश्न हो सकते हैं।[10] इसे काव्य के प्रश्न के रूप में देखना काव्य को उसके स्वकीय अर्थ से विमुख करना है। सामाजिक अन्याय किसी भी विवेकशील व्यक्ति के लिए विचलित करने वाला होना चाहिए, कवि के लिए यह विशेष ही कष्टकर होना चाहिए। यह अन्याय नैतिक दृष्टि : विवेक-दृष्टि : के लिए अर्थ-विपर्यय भी है। किन्तु अधिकांश कवि-जनों को ऐसी दृष्टि सुलभ नहीं है, यह आश्चर्य की बात है। महाभारतकार को मनुष्य की कुछ ऐसी ही दूसरी दृष्टि-हीनता से आश्चर्य हुआ था—**'अहन्यहनि भूतानि प्रयान्ति यम-मंदिरम्। शेषाः जीवितुमिच्छन्ति, किमाश्चर्यमतःपरम्?'** ऐसे ही आश्चर्य की बात यह भी है। किन्तु अब, यह एक वस्तु-स्थिति है, अन्य अनेक प्रमादों के समान! और जनवादियों के साथ भी यह उतनी ही है जितनी अन्यों के साथ है। इस अर्थ-विपर्यय के प्रति, विसंवादिता के प्रति संवेदनशीलता तो सब से पहले आचरण में दिखनी चाहिए न कि राजनैतिक सिद्धान्त की अनुचरता के रूप में काव्य में। काव्य में यह दिखे तो किसी राजनैतिक सिद्धान्त के निर्देशन के अनुसार नहीं दिखनी चाहिए। ऊपर उद्धृत रमेशचन्द्र शाह की कविता ऐसी संवेदना से ही प्रेरित है, **वाल्मीकीय रामायण** और **रामचरितमानस** की मूल दृष्टि ही यह है, यही प्रेमचन्द के **गोदान** और रमेशचन्द्र शाह के **किस्सा गुलाम** का संप्रेष्य है। किन्तु इन सब में यह काव्य की शर्तों पर है, राजनैतिक सिद्धान्त या राजनैतिक स्वार्थ में उपयोगी दलबन्दी की शर्तों पर नहीं। किन्तु यदि कोई कवि जन-दुःख को अपना विषय नहीं बनाता तो उससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह उस दुःख के प्रति संवेदनशील नहीं है। फिर, दुःख तो जीवन में अनेक हैं। बुद्ध ने जीवन में होने मात्र को ही दुःख रूप देखा था और इस प्रकार सर्वांशतः करुणाभिभूत थे। वह कोई बुर्जुआ की ऐयाशी नहीं थी, वह अतलान्त गंभीर दृष्टि थी। वास्तव में तो कोई भी संवेदनशील प्रबुद्ध व्यक्ति सब ओर दुःख ही देख सकता है क्योंकि सब ओर अज्ञान व्याप्त है, जो सबसे बड़ा दुःख-हेतु है। यह शोषक-शोषित की बात ही लें! ये क्या कोई आर्थिक वर्ग हैं? यह केवल एक मानसिकता है और इस मानसिकता को, सब वर्गों के आर-पार देखा जा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सकता है। और वास्तव में शोषक उससे कहीं अधिक गहरे दुःख में होता है जितने गहरे दुःख में शोषित होता है। कबीर ने 'आप ठगाइये' का परामर्श कोई सामंतों को प्रसन्न करने के लिए नहीं दिया था, सत्य के साक्षात्कार से ही दिया था। इससे मैं आर्थिक शोषण के तथ्य को नहीं नकार रहा हूँ और उसको दूर करने के प्रयत्न को भी अनावश्यक नहीं कह रहा हूँ।

किन्तु यह शोषण मानव-चेतना में लगे गहरे रोग का एक लक्षण मात्र है। महान चेता उस रोग को ही देखता और उसका उपचार ढूंढता है। काव्य में वाल्मीकि, नानक, कबीर और तुलसी ने यही किया। किन्तु कालिदास और भारवि, बिहारी, प्रसाद और अज्ञेय, जैनेन्द्र या निर्मल वर्मा यह नहीं करके भी काव्यात्मक वस्तु के याथार्थ्य-दर्शन में कहीं न्यून नहीं रहते।

सन्दर्भ

1. 'काव्य' शब्द का प्रयोग हम 'सृजनात्मक साहित्य' मात्र के अर्थ में कर रहे हैं, जो कि इसका मूल अर्थ था।
2. जो सिद्धान्त यहां हम प्रतिपादित करने जा रहे हैं वह अनुरूप प्रतीत होने वाले अन्य दार्शनिक मतों से कुछ भिन्न है और वह विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है। वह विवेचन हमारी पुस्तकों **चिद्विमर्श; सत्ता विषयक अन्वीक्षा** तथा **मूल्य तत्त्व-मीमांसा** में एवं 'सत् की चिन्मयता' लेख, **उन्मीलन**, जनवरी, 2001 में देखा जा सकता है।
3 द्रष्टव्य **चिद्विमर्श** में 'मनुष्य और जगत्' अध्याय।
4. द्रष्टव्य 'काव्य-तत्त्व' लेख, **बहुवचन** अंक 1 तथा **उन्मीलन** जुलाई, 1999 तथा जनवरी 2000 अंक
5. द्रष्टव्य - **चिद्विमर्श, सत्ताविषयक अन्वीक्षा** तथा **मूल्यतत्त्व-मीमांसा** में कला विषयक अध्याय।
6. द्रष्टव्य — कालिंगवुड, आर. जी. **दि आइडिया ऑफ हिस्ट्री**, क्लेरेंडन प्रेस, 1946
7. द्रष्टव्य — यशदेव शल्य — **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** में 'मानव-तत्त्व' अध्याय।
8. ये क्रमशः प्रेमचन्द, निर्मल वर्मा और रमेशचन्द्र शाह के उपन्यास हैं।
9. ऊपर पादटिप्पणियाँ 4 तथा 5 में उल्लिखित।
10. इस प्रश्न पर हमने 'कला की मूल्य-दृष्टि', **कला-प्रयोजन**, अंक 13, में विस्तार से विचार किया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

फाउस्टियन मैन

मुकुन्द लाठ

रमेशचन्द्र जी शाह का **उन्मीलन** में सोमराज जी गुप्त की पुस्तक, **द वर्ड स्पीक्स टू दि फॉउस्टियन मैन**, पर लेख पढ़ा। उस विषय पर कुछ कहना चाहता हूँ। कहना विशेष 'फॉउस्टियन मैन' की धारणा पर चाहता हूँ, पर रमेश जी के लेख से ही बात उभरी है, उसी पर कुछ और कहते हुए शुरू करता हूँ।

रमेश जी ने सोमराज जी के बारे में भी कुछ कहा है। उनके अध्यात्म गुरु की चर्चा की है। सोमराज जी का जैसा चिन्तन है वैसा ही जीवन है। बड़ी बात है, वर्ना विचार का एक अलग-थलग जीवन ही बन जाता है, जिसका हमारे शेष जीवन से, हमारी रहनी से - होने से - सम्बन्ध शिथिल ही रहता है। इसे आजकल 'प्राइवेट' और 'पब्लिक', इन दो असम्पृक्त कोटियों में रखते हुए, उचित ही नहीं, युगानुकूल - आधुनिक - भी माना जाता है - हमारा निजी जीवन और हमारा सामाजिक व्यवहार, इनके बीच लक्ष्मण-रेखा सी डाल देने का आज चलन है। आज का 'पब्लिक' एक विचित्र लोक है। हमारे जनताजनार्दनी प्रजातन्त्र और तत्प्रसूत 'जनता की अदालत' की देन है, शायद भीड़ को छूट ही नहीं, अधिकार है कि हर किसी पर फतवा दे। परख की कसौटी आवेग ओर रुचि बनते हैं, कोई गहरा न्यायबोध या औचित्य-विचार नहीं। यह परम्परा फ्रेंच रेवोल्यूशन में 'भीड़ जिसे कह दे उसें गिलोटीन की बलि चढ़ा देने' से जुड़ी जान पड़ती है और यों आधुनिक 'स्वातन्त्र्य' बोध में जन्मी कुलीन, अभिजात भी कहला सकती है। भीड़ के दूत या प्रतिनिधि हमारे संवाददाता आज न्याय के संरक्षक भी हैं। अचम्भा नहीं कि आज ज़िस पर जनता की आँख हो वह अपने निजी जीवन में 'पब्लिक' से आँख चुराना चाहता है।

हम जब पुराने मुहावरे में कथनी और रहनी-करनी के एकछन्द होने की बात करते हैं तो स्वीकृत आदर्श/विचार/उपदेश और व्यवहार में सामंजस्य ढूँढते हैं। पर आज हम जिसको किसी का पब्लिक-जीवन कहते हैं वह व्यवहार का पर्याय नहीं है (हालाँकि होना चाहिए, क्योंकि किसी 'रैश्नल' - उचित, संगत - समाज में, जैसा हम आज अपने को जताते हैं, उसमें पब्लिक और सिविक में भेद नहीं होना चाहिए, और सिविक तो व्यवहार के निकट ही है)। एक विचित्र छद्मलोक है आज का पब्लिक, जो स्वाँग की तरह रचा जाता है—हमारे देखते-देखते, जानते-समझते रचा जाता है। हम जानते भी हैं कि स्वाँग है, पाखण्ड

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नहीं भी तो दिखावा है, पर फिर भी रीझते हैं। यों पब्लिक, नाट्यधर्मी जगत् है, उसे गढ़ने की कुशल कला है; जिसके हम रसिक भी होते हैं। उसे वास्तव में व्यवहार कहते घोर संकोच होता है। मीडिया गढ़ती है यह जगत्। मीडिया वाले और उनके 'पात्र', ये दोनों मिलकर एक तीसरी दुनिया बनाते हैं जिसका व्यवहार से क्या नाता है यह एक अजीब सा सवाल बना रहता है। नाट्य का - काव्य, कला, शिल्प मात्र का - हमारे व्यवहार से भीतर का सम्बन्ध है - विचित्र सा दोहरा सम्बन्ध है। एक ओर हमारा व्यवहार-जगत् जहाँ नाट्य का उपकरण बनता है वहीं नाट्य भी हमारे व्यवहार को रूप देता है। हमारा ज्ञान न भी सही, हमारे भाव और कर्म नाट्य के बनाए हुए रास्तों पर पाँव बढ़ाते हैं। सामाजिक आदर्शों की रूढ़ियाँ बनाने वाले, या रूढ़ियों की रखवाली करने वाले तभी नाट्य जैसी कलाओं से डरते हैं, उन पर नियन्त्रण चाहते हैं। पर यह भेद भी स्पष्ट रहता है कि नाट्य नाट्य है और व्यवहार व्यवहार। व्यवहार की धरती पर, व्यवहार की सामग्री से नाट्य खड़ा किया जाता है - पर व्यवहार अपनी जगह बना रहता है, और हमारी रहनी की वही मूल धरती है। आज एक तरह से रीत उलटी है। आज जो पब्लिक है, वहाँ नाट्य और व्यवहार का भेद टूटता ही नहीं दिखता, एक औंधे भेष में खड़ा दिखता है। व्यवहार को ही नाटक बनाने की मनोवृत्ति में बनाने और देखने वाले दोनों का चाव दिखाई देता है। बनाने वाला देखने वाले की ओर बढ़ता है तो मीठा मुखौटा पहन कर बढ़ता है और देखने वाला कलाकृति की तरह उसका आस्वाद लेता है। ऐसा न करें तो बेचारा बौखला ही जाए। खेल परस्पर-भाव का है - तभी खेल बनता है। देखने वाले की आँख ऐनक न पहने हो तो दृष्टिदोष हो जाएगा, टोना टूट जाएगा, कुछ होता हुआ ही नहीं लगेगा। दिखावा-ढकोसला तो कब नहीं होता था, पर हमारा पब्लिक उसको एक नए शिल्प का रूप देता है - विश्वजनसम्मत शिल्प। आज कम्प्यूटर पर वर्चुवल रियालिटी की बड़ी चर्चा होती है (जिसे छाया-सत्य कह सकते हैं)—जहाँ आपका ही छायारूप - एक छद्म, छायामय 'आपा' या 'मैं' एक मनोवांछित छायालोक का निवासी हो जाता है और व्यवहार के वास्तव से कहीं अधिक समर्थ छाया-सुख का भोक्ता या रस का आस्वादक हो जाता है। आज का पब्लिक उस छाया-सत्य का ही सहयात्री जान पड़ता है। उसी रंग में रँगा हुआ। हम आज जिस जनताजनार्दनी संस्कृति में अपने लिए और सब के लिए अधिक से अधिक सुख साध रहे हैं, उसका यही सहज-प्रशस्त मार्ग भी है - सब के लिए पूरा सबरंग सुख, यह रस के छायापथ पर मिले तो मिल सकता है - व्यवहार की धूसर भूमि पर नहीं, जो भोग की ही नहीं, कर्म की भी भूमि होती है। सच पूछिए तो, वर्चुवल रियालिटी यही करती है कि कर्म को वर्चुवल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नाट्यधर्मी बना देती है, उसमें से वास्तव का संकल्प, ताप, पश्चात्ताप, दूसरे शब्दों में वास्तव की करनी - निकाल देती है, तभी भोग निर्विघ्न हो जाता है। भोग को न सत्य चाहिए और न ऐसे दूसरे लोग जो सचमुच हों - जिनके प्रति व्यवहार के औचित्य की बात उठे। विवेक का काँटा झेलना पड़े वहाँ सत्य और मिथ्या में भेद करने का दूभर भार सिर से उतर जाता है। रस का 'मैं' (मेरा भोगमय आत्म) वर्चुवल (नाट्यधर्मी) ही होता है, तभी रस जमता है; कर्म का 'मैं' नाट्यधर्मी नहीं हो सकता - हो तो कर्म का स्वरूप ही नहीं बनेगा। आज जिसे हम पब्लिक कहते हैं उसे होना तो कर्मलोक चाहिए, पर उसमें वर्चुवल का पसारा भरपूर है।

पर देखिए कहना कुछ चाहता था, कहने कुछ और लगा। अब फाउस्ट पर आता हूँ। फाउस्ट चाहे नाटक का वर्चुवल पात्र हो, पर कर्म-चिन्तन से, पुरुषार्थ-साधना से उसका गहरा सम्बन्ध है। तभी उसे मिथक कहा गया है - एक आदर्श जो 'आधुनिक मानव' की कर्मदृष्टि का प्रतीक भी है, प्रेरक भी।

रमेश जी का लेख पढ़ा तो गोएटे का **फाउस्ट** उठा कर पढ़ने लगा - पहले नहीं पढ़ा था। मार्लों को पढ़ा था, बरसों पहले जब अंग्रेज़ी में ऑनर्स कर रहा था। बहुत रम नहीं पाया था उसमें, बड़ा अतिनाटकीय - मेलोड्रमैटिक सा लगा था। दुबारा कभी देखा नहीं; अब देखा तो कृति और भी आँखों से उतर गई। इसकी चर्चा आगे करूँगा। गोएटे के **फाउस्ट** में महत् कृति के गुण हैं। उसकी भी चर्चा आगे करूँगा, कुछ अधिक विस्तार से करूँगा। पिछली बार जर्मनी गया था तो बाइमार भी गया था, गोएटे का बंगला देखा। **फाउस्ट** ही देखना चाहिए था- वहीं गोएटे हैं, बंगला-बगीची में तो वर्चुवल गोएटे भी नहीं हैं। अब सोचिए, हम इतिहास वाले जो पुराने अवशेष लिए इतराते फिरते हैं, वहाँ रहने वालों को कितना देख पाते हैं?

फाउस्ट की चर्चा मैं एक प्रश्न के सन्दर्भ में करूँगा। रमेश जी का लेख पढ़ रहा था तो कई और तरह के प्रश्न मन को घेरते रहे। पर एक ज्यादा सताता रहा। उसी के सन्दर्भ में चर्चा करूँगा। पर प्रश्न को सामने रखने से पहले उसके लिए थोड़ी जगह बनाना चाहता हूँ।

फाउस्ट की कहानी को सामान्य रूप से मनुष्य का चिरन्तन मिथक कहा जा सकता है - शक्ति और ज्ञान की ऐसी असीम आकांक्षा जिसके सामर्थ्य से उसकी अदम्य भोग-पिपासा सदेह, इहलोक में ही पूरी हो सके। रमेश जी ने लेख का आरम्भ इसी बात से किया है। पर इतना ही होता तो फाउस्ट दूसरे मिथकों जैसा ही होता - मनुष्य की किसी सनातन प्रवृत्ति को उभारता आख्यान। फाउस्ट को केवल मिथक के रूप में नहीं, एक विशेष 'ऐतिहासिक' काल के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मिथक के रूप में देखा जाता है। उसे 'आधुनिक' कहलाने वाले मनुष्य का मिथक कहा जाता है। आधुनिक मानव को ही फाउस्टियन मैन का नाम दिया जाता है, मानवमात्र को नहीं। रमेश जी भी इस बात को मान कर चले हैं : लेख के शुरू में उन्होंने मिथक को चिरन्तन कहा है (उसमें चिरन्तन तत्त्व तो हैं ही, नहीं तो मिथक क्या?) पर (पृ. 133 पर) लेख की दूसरी कड़ी के शुरू में वे मिथक को आधुनिक मनुष्य के साथ ही जोड़ते हैं। फाउस्टियन मैन और आधुनिक मैन का पर्याय-सम्बन्ध इतना प्रसिद्ध है कि इसे अलग से उभारने या इसके तात्पर्य पर अलग से विचार करने की बात ही रमेश जी के मन में नहीं उठी। सोमराज जी भी आधुनिक मैन को ही 'फॉउस्टियन' के नाम से पुकारते हुए अपनी बात कहते हैं।

फाउस्ट के आख्यान का जन्म जनश्रुति या किंवदन्ती में हुआ। कहानी को मिथक की शक्ति मार्लो और विशेषकर गोएटे इन दो 'आधुनिक' नाटककारों ने दी है। माना जाता है कि इन्हीं की कल्पना के पारस ने कहानी के लोहे को 'आज के युग के मार्मिक मिथक' के सोने में ढाला है और इस नाते भी मिथक 'आधुनिक' है, क्योंकि मालों और गोएटे उन लेखकों में गिने जाते हैं, जिन्होंने आधुनिक मानस के आविर्भाव को प्रगल्भ वाणी दी है। इन्हीं की रचना में 'फाउस्टियन' शब्द में एक गहरी व्यंजना का अर्थ-लोक उजागर पाया जाता है - इनसे पहले फाउस्ट की कहानी में ऐसा कोई युग-साधक दम खम नहीं दिखाई देता। बेताल पचीसी का शव-साधक तान्त्रिक भी फिर तो फाउस्टियन मैन ही ठहरता दिख सकता है। मार्लो और गोएटे के फाउस्ट को ध्यान में रख कर ही फाउस्ट के रूप में एक नये 'युगमानव' की बात उभारी जाती है। आधुनिक युगमानव की।

मेरे मन में यही वह प्रश्न जागता है, जिस की बात कर आया हूँ (ऐसा प्रश्न मैंने कहीं उठते देखा नहीं है, और हो सकता है आपको अजीब लगे, पर मैं फिर भी उसे उठाना उचित समझता हूँ, ओर आगे की बातों में उसके लिए और भी आँगन खोलता रहूँगा)। पर चलिए प्रश्न लीजिए। प्रश्न है : फाउस्ट को प्रतीक बना कर जिस युगमानव की बात की जाती है, वह व्यष्टि है या समष्टि है? युगमानव की बात तो समष्टि की बात ही होनी चाहिए। और समष्टि की ही नहीं, काल (युग) विशेष में किसी समष्टि विशेष की बात होनी चाहिए। और 'युग' और 'मानव' इस शब्द-युगल के संयुक्त तात्पर्य पर पूरी तरह से जाएँ तो अर्थ और व्यापक ठहरता है : काल विशेष की सम्पूर्ण मानव समष्टि। अपने यहाँ (इतिहास की पौराणिक दृष्टि में) जब कालखण्ड (युग) विशेष के गुणधर्म विशेष की बात होती है तो मानव मात्र को लक्ष्य में रख कर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

होती है - जो कि ठीक, युक्तिसंगत, ही है। आधुनिक युगमानव की बात करते हुए भी अर्थ का सम्पूर्ण मानव समष्टि पर व्यापक होना अनायास ही मन में उठता है। और तभी ऊपर वाला प्रश्न जागता है : बात समष्टि की हो रही है या व्यष्टि की? होनी तो समष्टि की ही चाहिए - समूची मानव समष्टि की - पर समष्टि-सर्वस्व की बात तो यहाँ बनती ही नहीं दीखती। सच पूछिए तो किसी भी एक पूरी की पूरी समष्टि को - उसकी एक-एक व्यक्तिनिष्ठ इकाई को - किसी भी सार्वजनीन अर्थ में 'आधुनिक' कहना ही अटपटा लगता है, विशेषकर अगर ऐसे गुण की बात हो जो सार्वकालिक नहीं है। और सोलहवीं या अठारहवी सदी के बाद की समष्टि विशेष के हर स्त्री-पुरुष को फाउस्टियन कहना तो और भी बेतुकी बात लग सकती है। माना कि विगत की चर्चा में इतिहासकार ऐसे प्रयोग करते हैं, पर प्रश्न तो रहता ही है कि ऐसे प्रयोग का अर्थ क्या? हम कह सकते हैं कि प्रयोग को लक्षणा में लेना चाहिए, अभिधा में नहीं। पर यहाँ लक्षणा क्या है, इतिहासकार कोई बहुत स्पष्ट नहीं करते। क्या युगमानव, समष्टि के अन्दर कोई समूह होता है, ऐसा समूह जिसे 'अगुआ' कह सकते हैं, या समष्टि का चरित्र होता है जो कम-ज्यादा लगभग हर एक में पांया जाता है, या फिर कोई आदर्श होता है जो सभी में किसी रूप में प्रकाशित होता है? इतिहासकार इन सभी परस्पर-भिन्न अर्थों को लपेट कर एक अर्थ का धुंध उठाते चलते हैं, अपना तात्पर्य किसी अर्थ-विवेक के साथ प्रस्तुत नहीं करते। पर ऊपर का कोई भी अर्थ लीजिए, विसंगतियाँ फूट पड़ेंगी। जिन सभ्य-संस्कृत आत्मचेतन समष्टियों में इतिहासकार भिन्न युगचेतनाओं का सोपान देखते हैं इन समष्टियों में, गुण हों या चरित्र या आदर्श, इन सबका अनेक ही स्फुट-प्रत्यक्ष होता है, एक को तो अनुमान और ध्यान-विशेष - बुद्धि-विशेष से - ताक पर परोक्ष ही देखना पड़ता है। इसलिए, शायद समझना यों चाहिए कि किसी समष्टि के भीतर ऐसे मान्य समूह विंशेष का आदर्श विशेष युगचेतना का द्योतक होता है जो आदर्श समष्टि-सर्वस्व को - या लगभग सर्वस्व को - अपनी ओर खींचता है। प्रश्न यहाँ भी उठेंगे - 'लगभग' का अर्थ क्या? क्या गिनती की बात है (जैसीकि अभी अमरीका के चुनाव में हुई थी?) या किसी और तोल की? फिर आदर्श-आस्था जैसी भीतर की बातों में सही गिनती तो आज भी सम्भव नहीं, विगत में कहाँ से हो सकती है जब कि गिनती पर आज-सी आस्था ही नहीं थी? एक और गहरी बात देखिए - दूसरों की गिनती छोड़िए, अपने आप से ही पूछिए कि आदर्श क्या है, तो क्या उत्तर पाएंगे? फिर आदर्श बदलते भी हैं। हमारे एक ही छोटे से जीवन में आदर्श के भिन्न 'युग' हो सकते हैं तो फिर एक पूरी पीढ़ी या कुछ पीढ़ियों के समूह की बात ही क्या? फिर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जिस विशिष्ट अगुआ कहला सकने वाले समूह की यहाँ बात हो रही है वह आत्मचेतना में भी विशिष्ट होता है - और आत्मचेतना विवाद-वैविध्य का सहज स्थान है, यह इतिहासकार से भी छुपा नहीं। किसी भी सभ्य-संस्कृत समूह में अन्तर्भेद होता है। स्वभाव-अनैक्य। आज तो दिखता ही है, पहले के लोग भी हम जैसे ही थे। यों समष्टि विशेष में भी एक अद्वय युगचेतना हाथ-कंगन जैसी स्पष्ट बात नहीं है - सम्पूर्ण मानव-समष्टि में तो बिल्कुल भी नहीं।

पर चलिए, हम मान भी लें कि कलिकाल की तरह एक काल विशेष में सारी मानव-जाति ही एक गुण-धर्म विशेष से व्याप्त हो जाती है। तो इसका अर्थ क्या बनेगा? फाउस्टियन मैन की धारणा अगर कलियुगी मानव की तरह सर्वतोग्राही है तो मानवमात्र पर पूरी उतरनी चाहिए। पर यहीं बात में खटका आता है। फाउस्ट जिस अबाध सत्ता या प्रभुत्व का प्यासा है उसे मानवमात्र की ऐसी ललक - बल्कि हूक - कहा जाए कि उसके लिए मानव अपनी आत्मा शैतान को सौंप देने के लिए तैयार हो जाये, तो इसका मानवमात्र के लिए क्या अर्थ बनता है? 'मानवमात्र में अबाध सत्ता की चाह होती है' का अर्थ यही बन सकता है कि 'हर एक मानव में अबाध सत्ता की चाह होती है।' पर तब बात मानवता का चिरन्तन गुण हो जाती है (वह सामान्य - अत: कालातीत - गुण जो स्वभाव से हर मानव व्यक्ति में होता है) और यों अलग से किसी काल या युग विशेष से जुड़ती नहीं जान पड़ती। क्या 'सत्ता के लिए शैतान को आत्मा सौंप देना', यह बात उसे आधुनिक युग विशेष से जोड़ती है? इस बात पर हम विचार करेंगे। पर 'सत्ता' से यहाँ क्या अभिप्राय? 'हर व्यक्ति सत्ता चाहता है' इसका इस सन्दर्भ में तात्पर्य यही उभरता दिखता है कि हर व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों पर प्रभुत्व चाहता है, उन्हें अपनी इच्छा के वश रखना चाहता है। सत्ता का अर्थ शक्ति मात्र भी लिया जाए तो भी यहाँ यही अर्थ उभरता जान पड़ता है - क्योंकि सत्ता यहाँ आकांक्षाओं को पूरा करने का साधन है, और हम आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए जिस शक्ति की चाह करते हैं वह दूसरों पर नियन्त्रण है - कोरी शक्ति की चाह का क्या अर्थ और वह भी फाउस्टियन मैन के लिए? जिन आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए मैं शक्ति की चाह करता हूँ, वे आकांक्षाएँ दूसरों के बीच, दूसरों पर ही पूरी होती हैं। जिनको हम मनुष्य की आकांक्षा कहते हैं - धन, जन, अभिजन, काम सुख और ऐसे ही दूसरे भोग (और यही फाउस्ट की भी आकांक्षा थी), यह मनुष्य को ही विषय बनाती है। सत्य की, विशुद्ध ज्ञान की (ऐसा ज्ञान जो निष्प्रयोजन हो, या शांति का साधन हो), या शांति की, मोक्ष की, करुणा या मैत्र की, इनकी साध इस सन्दर्भ में 'आकांक्षा' नहीं कहला सकती और न फाउस्टियन मैन के साथ हम ऐसी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आकांक्षाओं का मेल बैठते हैं। करने को ऐसी आकांक्षाओं की साधना में भी शक्ति की बात की जा सकती है - व्रत की, तप की, वीर्य की - और ऐसी बात की ही गई है, पर तब 'शक्ति' शब्द का अर्थ ही अलग निकलता दिखता है। फाउस्ट के सन्दर्भ में जिस शक्ति की बात है, वह अन्य को और अन्य की इच्छा-आकांक्षा को अपने काबू में करने की बात है, ताकि अपनी इच्छा-आकांक्षा का प्रवाह बेलगाम बह सके। अपने आप को ही हम काबू में ले आना चाहें तो फाउस्ट क्या खाक हुए? फाउस्ट हो कर मैं सत्ता चाहूँ तो दूसरे किसी पर, या किन्हीं पर चाहूँगा, या सत्ता की प्यास और भी उत्कट हुई तो पूरे मानवसमाज पर अपनी सत्ता चाहूँगा। सत्ताकामियों के आदर्श तो रावण और हिरण्यकशिपु जैसे ही होने चाहिएँ। पर एक इकाई के रूप में सम्पूर्ण मानव-समष्टि में ऐसी सत्ता की प्यास? इसका अभिप्राय क्या बनता है? व्यक्ति में ऐसी प्यास हो, समझ में आता है; मैं भी अपने अन्दर इस प्यास को भॉप सकता हूँ, इसकी कल्पना तो कर ही सकता हूँ। पर मानव-समष्टि किस पर सत्ता चाहेगी? समष्टि के रूप में मानव की जड़-प्रकृति पर सत्ता या वश की बात की जा सकती है - की ही जाती है, पर माना कि प्रकृति पर वंश पाने की कोई सर्वमानवीय इच्छा है भी या उसकी कल्पना भी की जाए, तो उसको फाउस्टियन किस अर्थ में कहेंगे? और फिर उसके लिए निर्ऋति और अधर्म (ईविल) के प्रतीक शैतान को आत्मा सौंप देने का क्या अर्थ? अधर्म तो चेतन जीव और विशेष कर आत्मचेतन मनुष्य के प्रति किये गए कर्म में ही हो सकता है, जड़ के प्रति अधर्म का क्या अभिप्राय बनेगा? पर, हाँ, यह सच है कि प्रकृति पर मानव-विजय की अभीप्सा और अभियान में आज जो संकल्प और शक्ति है, वह 'आधुनिक' जरूर कहला सकती है पहले तो वह अकिंचन सी ही थी। पर उसमें कोई ऐसी फाउस्टियन प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती जहाँ शैतान का प्रवेश हो। उलटे, प्रकृति-विजय की जो आधुनिक कल्पनाएँ की गई हैं, उन यूटोपियन मिथकों में यही स्वप्न जैसी समीहा है कि इस विजय के बाद मनुष्य के आपस के व्यवहार से सत्ता का चलन ही उठ जाएगा - मनुष्य जिन वस्तुओं के लिए दूसरों से जूझते हैं, उन पर सत्ता चाहते हैं, उनकी कोई कमी नहीं। ऐसी यूटोपिया को चरितार्थ करने के लिए कम्यूनिस्ट पार्टी जैसी किसी यूटोपियन पार्टी को आत्मा बेचना ज़रूरी हो सकता है, शैतान को नहीं। अब आप ऐसी पार्टी/पार्टियों को ही शैतान कहना चाहें जो मानवमात्र पर सत्ता के बल से सत्ता को मिटा देने का दावा करती हैं, तो बात और है। (पर यह न भूलिए कि सत्ता के माध्यम से यूटोपिया की साधना जिस मैन की है वह भी उतना ही 'आधुनिक' मैन है, जितना कि फाउस्टियन मैन, और वह फाउस्ट के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विपरीत सत्ता पाने के नहीं, सत्ता को मिटा देने के मिथक बनाता रहा है, परिणाम जो भी हुआ हो)।

विसंगत ही लगता है कि किसी भी फाउस्टियन अर्थ में हम सर्व मानव-समष्टि को एक इकाई के रूप में सत्ता का लोलुप ठहराएँ। प्रकृति पर सत्ता की कामना अगर फाउस्टियन नहीं हो सकती तो फिर किस पर सत्ता फाउस्टियन होगी, और किस आकांक्षा की पूर्ति के लिए? पुराणों में असुर देवों पर राज करने के लिए सत्ता चाहते हैं - उनको नीचा दिखा कर आप ऊँचे होने का दम्भ साधते हैं, उन्हें दास बनाते हैं; पर मानव के लिए कौन प्रतिमानव है जिसे वह अधीन करना चाहे? मानव-सर्वस्व में फाउस्टियन सत्तालोलुपता हो, यह बात बनती नहीं दिखती, तो भी चलिए बात बनाने की चेष्टा करें। समष्टियों की बात की जा सकती है। समष्टियाँ एक नहीं अनेक होती हैं और समष्टिमानव का प्रतिमानव तो रहा ही है। फाउस्टियन मैन अगर आधुनिक है तो चलिए आधुनिक युग में ही समष्टियों की सत्ता-प्यास की बात करें - जहाँ शैतान की भी झलक है, अगर नितान्त स्वार्थमयी गृध्नुता को या नृशंस-भाव को शैतान कहें। इतिहास-चर्चा में आज जिसे 'आधुनिक' युग कहा जाता है उसका उदय और विकास पिछली चार-पाँच सदियों में यूरोप में माना जाता है। फाउस्टियन मैन का भी तभी उदय माना जाता है। आधुनिक मैन के रूप में फाउस्टियन मैन (कम से कम अपने जन्म में) आधुनिक यूरोपियन मैन है। अब लक्ष्य कीजिए कि आधुनिकता के उदय के साथ ही यूरोप में दूसरे सभी समाजों पर सत्ता पाने की ललक का भी जन्म होता है और इसके विराट् आयोजन होते हैं जो सफल भी होते हैं, और यूरोप दूसरे देशों का जम कर गृध्नुता के साथ उपभोग करता है। नृशंसता भी देखी जा सकती है और यों शैतान के दोनों हाथ देखे जा सकते हैं - यूरोप के इतिहासकार भी इस से इनकार नहीं करते कि दूसरे देशों पर (समाजों, संस्कृतियों पर) उनके विजय के साधन अक्सर नृशंस हिंसा और विनाश रहे हैं, और परिणाम रहा है अन्य की सम्पदा का स्वेच्छा से परदुःखकातर हुए बिना उपभोग। (सफाई में यूरोप के इतिहासकार यह कहते हैं कि यूरोप की विश्वविजय से आधुनिकता का 'प्रकाश' विश्व भर में फैला है - हम फाउस्ट के बावजूद भी 'आधुनिकता' को प्रकाश मान ही लें तो भी गृध्नुता और नृशंसता की क्या सफाई दी जा सकती है?)। आधुनिक सत्ता-प्यास के इस लोलुप अभियान को दृष्टि में रक्खें तो यूरोपियन मैन समष्टि के रूप में फाउस्टियन ठहराया जा सकता है।

पर बात अब भी अधूरी है और ऊपर के चित्र में एक दोष भी है जो आपको दिख गया होगा - यूरोप एक समष्टि नहीं है। समष्टियों का समूह है -

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

या व्यूह कहिए (क्योंकि संस्कृति में एक है भी)। पर समष्टि की इकाई अगर सत्ता के आधार पर आँकें तो इकाई राष्ट्र होगी। भूलिए नहीं कि यूरोप के आधुनिक विचारक भी राष्ट्र और राष्ट्र-सत्ता को समष्टि की इकाई का परिनिष्ठित-निर्धारित रूप मानते हैं और इस राष्ट्र-सत्ता-निष्ठ इकाई के उभरने को भी आधुनिकता की ही 'उपलब्धि' कहते हैं। तो फिर यूरोप को एक समष्टि नहीं कहा जा सकता (और संस्कृति के परस्पर गहरे भेद भी इन राष्ट्रों के इतिहासकार और विचारक स्वयं उजागर करते ही रहते हैं)। इनकी आपस की लड़ाइयाँ भी सदियों पुरानी हैं। यों यूरोप को यूरोप के ही भीतर से देखें तो पूरे यूरोप को एक समष्टि के रूप में फाउस्टियन कहने का अभिप्राय उखड़ता दिखता है। पर दूसरी तरफ यह भी है कि यूरोप ने (यूरोप के सभी अलग-अलग राष्ट्रों ने) यूरोप-भिन्न देशों पर सत्ता का जैसा खुला, निर्मम, अमानुषी प्रयोग किया है और सत्ता के माध्यम से उनका जैसा 'उपभोग' किया है वैसा आपस में नहीं किया। यह उनके कहीं गहरे में एक होने का भी चिह्न कहा जा सकता है।

यूरोप के 'आधुनिक' राष्ट्रों का इतिहास युद्ध का ही इतिहास है। ये आपस में लड़ते ही रहे हैं - और अब जब 'यूनियन' के रूप में एक होने की बात कर रहे हैं तो आधुनिकता के झण्डे पर भी मुट्ठी ढीली पड़ रही है, अपने आप को उत्तर-आधुनिक कहते हैं, या उससे भी उत्तरतर। क्या फाउस्टियन मैन का यूरोप में अब अस्त हो रहा है, और जिनका आज तक यूरोप फाउस्टियन उपभोग करता रहा था, उस 'तीसरी दुनिया' में ही उसकी बस्ती रह गई है?

पर 'तीसरी दुनिया' को छोड़िए (यह लांछनामय संज्ञा भी यूरोप की ही देन है) और यूरोप पर ही लौटिए। आधुनिक यूरोप अगर समष्टियों का समूह है तो क्या यह उचित नहीं होगा कि हम पूरे यूरोप को नहीं, यूरोप की एक समष्टि-विशेष - एक राष्ट्र-विशेष - को ही फाउस्टियन कहें? जर्मनी ध्यान में आता है। आखिर आधुनिक जर्मनी ने ही यूरोप में सत्ता-विस्तार के लिए दो-दो महायुद्धों का सत्ता-ताण्डव रचाया (यूरोप के कुछ दूसरे देश कहते ही थे कि जर्मनी में शैतान जाग उठा है)। फाउस्ट की जनश्रुति का जन्मस्थान भी जर्मनी को ही माना जाता है (गोएटे के **फाउस्ट** का जो अंग्रेजी अनुवाद मैं पढ़ रहा हूँ उसके नोट्स से भी ऐसा उभरता है - मूल **फाउस्ट**, जिस के आधार पर कहानियाँ बनीं, जर्मन ही था) पर सोचिए, क्या हम .सचमुच यह कहना चाहेंगे कि फाउस्टियन मैन का अर्थ जर्मन मैन है? अब, यदि यहाँ हम यह भूल भी जाएँ कि जब फाउस्ट की जनश्रुति जन्मी और फैली, तब जर्मनी एक-राष्ट्र था ही नहीं, और न उस समय उसमें कोई प्रबल सत्ता-कामना थी और न दूसरे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यूरोपियन राष्ट्रों की तरह उसने कोई उपनिवेश जीते। तो भी जर्मनी या किसी और यूरोपियन राष्ट्र को फाउस्टियन ठहरा कर क्या हम अपनी खोज में सार्थक कुछ पकड़ पाएंगे? क्या कोई अलग से आधुनिक फाउस्टियन मैन का हम संधान पा लेंगे - ऐसा मनुष्य जो कि 'अन्-आधुनिक' युगों में नहीं था? राष्ट्रों का - या भिन्न सत्ताधारी समष्टियों का - एक-दूसरे से युद्ध, एक-दूसरे पर आधिपत्य, दूसरे को उपनिवेश बनाना, निर्मम उपभोग, ये कोई आधुनिक प्रवृत्तियाँ तो नहीं हैं। चिरन्तन ही ठहरती हैं।

आपको लग सकता है कि बात जिधर जा रही है, दिशा ठीक नहीं है, विश्लेषण में बेकार की छीछालेदार है - भीतर के तात्पर्य की ओर न झाँक कर शब्दों की सतह को ही मथने की चेष्टा है - मिथक के प्रति संवेदना का अभाव है। मिथक को यों नहीं समझा जाता : मिथक का सम्बन्ध प्रवृत्ति के सूक्ष्म स्तरों से होता है, उसको यों स्थूल बना देना उसका तिरस्कार है। पर मैंने जो कहा है उसमें व्यंग की अनी हो भी तो भी विमर्श के अभिनिवेश में फाउस्टियन मैन के मिथक को ठठा कर उड़ा देने का मनोभाव बिल्कुल नहीं है, न उसे छोटा या उथला या निरर्थक कर देने की विवक्षा है। मेरी समझ में अभिनिवेश की बात ही यहाँ यह है कि फाउस्ट के मिथक को अगर हम आधुनिक कहलाने वाले युग के स्वभाव का - या उसके किसी प्रधान गुणधर्म का - द्योतक कहें, और धर्म ऐसा हो जिसकी प्रेरणा 'मनुष्य' की दुर्दम्य सत्ता-प्यास और भोगलिप्सा है, तो इस प्रवृत्ति का प्रकाश 'आधुनिक' इतिहास के सत्ता-व्यापार में ढूँढना उचित ही नहीं आवश्यक है - विशेषकर उस 'मनुष्य' के इतिहास में जिस मनुष्य के बीच यह मिथक पनपा और परवान चढ़ा है और जो आधुनिकता का जनक ही नहीं आधुनिकता का मसीहा होने का दावा करता है : यूरोप का मनुष्य।

रमेश जी ने यूरोप के आधुनिक साहित्य के नए स्वरों में इस मिथक का अनुरणन देखा है। यह ठीक है। साहित्य के नए स्वरों में ही फाउस्ट की कहानी पर आधारित मार्लो और गोएटे के नाटक भी हैं, जिन्होंने कहानी को आधुनिकता का मानस दिया है। पर कोई भी युग साहित्य तक तो सीमित नहीं होता। युग की एक भावभूमि ही नहीं, कर्मभूमि और युद्धभूमि भी होती है - सत्ता का तो इन्हीं में स्थान है। साहित्य में तो सत्ता के काल्पनिक मिथक ही हो सकते हैं। फिर इस मिथक को जब हम ऐसा विलक्षण मिथक बताएँ जिसमें आधुनिक कहलाने वाले कालखण्ड की गम्भीरतम प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति है - मर्मच्छवि है - और साथ ही मिथक को 'आधुनिक' कहते हुए यूरोप की धरती को ही आधुनिकता की जन्मभूमि कहें, तो क्या वहाँ के साहित्य से बाहर निकल कर, वहाँ के कर्म-व्यवहार में मिथक का उन्मेष नहीं देखना चाहिए?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और कहना न होगा कि युग के - इतिहास के - कर्म-व्यवहार की भूमि व्यष्टि में नहीं, समष्टि में होती है : इतिहास समष्टि का ही आकलन करता है, व्यष्टि को देखता है तो समष्टि में रख कर ही देखता है। यों भी हमारा व्यवहार, चाहे व्यष्टि का ही व्यवहार क्यों न हो, समष्टि की धरती पर ही होता है, चाहे व्यष्टि-समष्टि के सम्बन्ध जटिल और बहु-सूत्र शबल ही क्यों न होते हों। मनुष्य की समष्टि में ही वह शिक्षा-संस्कृति-साधना पलती हे जो व्यक्ति को विशिष्ट व्यक्ति बनने देती है।

पर यहाँ अवधान की बात यह है कि 'मनुष्य की समष्टि' यह किसी एक महासमुदाय का नाम है 'सम्पूर्ण मानव-समष्टि' यह संज्ञा किसी एक संश्लिष्ट समूह की नहीं है। सम्पूर्ण मानव-समष्टि परस्पर भिन्न समष्टियों का संग्रह है। पहले भी था, आज 'आधुनिक' समय में भी है। समष्टियाँ स्वरूप से ही बहुत होती हैं और उनकी भिन्नता का एक व्यावर्तक लक्षण यही है कि हर एक की अलग सत्ता होती है जो उसे दूसरे से विच्छिन्न करती है, तनाव-संघर्ष भी जगाती है, टकराव भी। हर समष्टि का अलगाव उसकी स्वतन्त्र भाव-कर्म-ज्ञान और साधना-भूमि होती है जिसके लिए स्वाधीन व्यवस्था और व्यवहार का शरीर भी चाहिए। स्वतन्त्र सत्ता के बिना यह बात नहीं बनती और इस सत्ता को दूसरी समष्टि की सत्ता से व्यावृत्त ही नहीं रखना पड़ता, उससे संरक्षित भी रखना पड़ता है।

माना भी गया है कि किसी स्वतन्त्र संस्कृति के स्वनिष्ठ होने का एक प्रधान लक्षण उसकी स्वतन्त्र राजनीतिक सत्ता है। इसी आधार पर हमने भी एक सदी से अधिक समय तक स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ी थी। आजकल कुछ लोग संस्कृति का आकलन करते हुए सत्ता और उसके स्वरूप को - संस्कृति के राजधर्म को - संस्कृति से अलग देखते हैं, मानो यह कोई संस्कृति-विलग स्वयंप्रतिष्ठ या स्वयंभू तत्त्व हो। पर मैं नहीं समझता कि मनुष्य की रहनी के किसी भी तत्त्व को संस्कृति से अलग किया जा सकता है - और राजधर्म और उसमें निहित सत्ता-व्यापार के बिना तो मनुष्य की रहनी बनती ही नहीं। मैं यह नहीं कहना चाहता कि मनुष्य की रहनी का सार ही राजनीति है और राज्यव्यवस्था ही संस्कृतिसर्वस्व है : जैसा राज वैसी संस्कृति। ऐसे मत हैं जो ऐसी बात कहते हैं, और राजनीति को समाज का प्रधान ही नहीं, आधार तत्त्व मानते हैं; दूसरे तत्त्वों को राजनीति-उद्भूत। मैं नहीं समझता कि राजनीति में और समाज के ज्ञान-भाव-कर्म के अन्य पुरुषार्थों में कोई ऐसा कार्य-कारण सम्बन्ध है कि जैसा राजधर्म वैसा समाज और वैसी ही उसकी संस्कृति। पर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

राजधर्म किसी भी समष्टि का एक बड़ा अंग होता है और शेष संस्कृति के साथ उसके सम्बन्ध में एक अंगाँगी भाव होता है।

संस्कृति में राजधर्म के स्थान को यों रखना ज्यादा ठीक होगा : मनुष्य की संस्कृति के व्यवहार-स्तर पर राजधर्म संस्कृति का एक प्रधान स्तम्भ होता है पर पुरुषार्थ के स्तर पर नहीं। संस्कृति को हम मोटे तौर पर दो भूमियों में बाँट सकते हैं : एक को मनुष्य के चिरन्तन स्वभाव और उसकी अपनी विलक्षण, पशु-भिन्न जिजीविषा की एक देश-काल-परंपरा-निष्ठ समाज-भूमि कह सकते हैं—संस्कृति की वह आचरण-भूमि समष्टिप्रधान होती है। चाहें तो इसे संस्कृति का शरीर भी कह सकते हैं। मैं समझता हूँ कि हमारे यहाँ का 'व्यवहार' या 'लोक' शब्द संस्कृति की इसी भूमि की ओर संकेत करता है। मनुष्य होगा तो उसकी अपनी रहनी की यह भूमि होगी ही। हमारे यहाँ इसी भूमि को काम, अर्थ और धर्म इस 'त्रिवर्ग' से भी आँका गया है। इसे मनुष्य की 'सिद्ध' भूमि भी कह सकते हैं—मनुष्य के रूप में मनुष्य की सहज, निसर्ग भूमि। दूसरी भूमि सूक्ष्म है, अधिक अंतरतम है, इसको चाहें तो संस्कृति की आत्मा कह सकते हैं—यह मनुष्यं की सिद्ध नहीं, साध्य भूमि है, मनुष्य की ऊर्ध्वतर एषणाओं का जगत्, या 'एषणाओं का जगत्' की जगह 'एषणाओं के जगत्' कहना ज्यादा ठीक होगा : भाव, ज्ञान, विचार, कर्म और ऐसे ही क्षेत्रों की आत्मचेतन साधना से बनते विभिन्न अर्थ-लोक। ऐसा नहीं है कि मनुष्य का व्यवहार-लोक अनात्म-चेतन होता है, पर आत्मचेतना वहाँ संस्कार के रूप में ही अधिक रहती है, विवेक के रूप में कम। उसे 'आत्मचेतन' नहीं कह कर 'चेतन' भी कह दें तो तात्पर्य बिगड़ेगा नहीं। दया जी कुछ ऐसी बात कहते भी हैं—हालांकि वे ऐसा अंतर सभ्य और सभ्यता के पूर्व के समाजों में करते हैं : एक को शास्त्र के अभाव में केवल चेतन कहते हैं, दूसरे को शास्त्र और शास्त्र की परम्परा के उदय से लक्षित आत्मचेतन। अब सभ्यता-पूर्व के समाजों का हमें इतना ज्ञान नहीं कि निश्चय के साथ ऐसा कुछ कहा जा सके। आज के सभ्यता-बाहर कहलाने वाले 'आदिवासी' समाजों के आधार पर ही कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। क्या ऐसे समाजों में शास्त्र जैसी कोई आत्मचेतन रूप से सचेत परम्परा नहीं होती जिसमें कुछ प्रमाण-व्यापार, कुछ आत्मालोचन भी होता हो और इनसे प्रेरित परिवर्तन? मैं ऐसे समाजों का विद्यार्थी नहीं हूँ, पर जो थोड़ा पढ़ा है उससे इस बात की सच्चाई पर भरोसा नहीं होता। शास्त्र और अशास्त्र के आधार पर चेतन और आत्मचेतन में भेद की बात मुझे तत्त्व-भेद या कोटि-भेद जैसी बात लगती है, किन्तु मैं मनुष्य के चेतन और आत्मचेतन स्तरों में कोई कोटि-भेद जैसा भेद नहीं देख पाता। हम अपने ही जीवन में चेतन और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आत्मचेतन के स्तरों को देखें तो एक को दूसरे में घुला सा पाते हैं। वैसे ही मैं समझता हूँ, संस्कृति के चेतन व्यवहार और आत्मचेतन के स्तरों को देखें तो एक को दूसरे में घुला सा पाते हैं। वैसे ही मैं समझता हूँ संस्कृति के चेतन व्यवहार और आत्मचेतन साधना के लोकों में भी जहाँ तारतम्य है वहीं किसी निर्धारित विभाजन- रेखा का अभाव भी है। एक सोपानवत् क्रम का सा भान होता है, भूमि-भेद का नहीं। यही नहीं, संस्कृति में सिद्ध और साध्य का भेद ही एक अर्थ में विभाजन-विहीन भेद है। जहाँ हमारा व्यवहार-लोक हमारे निसर्ग स्वभाव की नींव पर खड़ा 'सिद्ध' लोक जान पड़ता है वहीं यह भी दिखता है कि यह लोक भी हमारे लिए साध्य ही होता है—उसे प्रयत्न से साधते हुए बनाए रखना पड़ता है। इसे हम चाहें तो योग-क्षेम का लोक भी कह सकते हैं—और सोच कर देखिए, योग—जो नहीं है उसको जुटाना और क्षेम जो है उसका संरक्षण—दोनों ही साध्य हैं। हर समाज इस युगल चेष्टा में निरन्तर लगा रहता है—यह उसके व्यवहार की नींव है। सभ्य हो या सभ्यता-पूर्व या सभ्यता-बाहर, मनुष्य-जीवन की बात अंत को आत्मचेतना के स्तरों की, तारतम्य की, ही बात ठहरती जान पड़ती है। मनुष्य (सभ्य हो या सभ्यता-पूर्व), भाषाविहीन कभी नहीं होता और भाषा आत्मचेतना की ही बोध-भूमियों की बात है।

संस्कृति के सिद्ध शरीर और साध्य आत्म के सम्बन्ध को मैं समझता हूँ, देह और मन (या चित्त या अंतःकरण) के दृष्टान्त पर उतना नहीं जितना काव्य के शरीर और उसकी आत्मा के दृष्टान्त पर समझना चाहिए। जितनी दूर तक किसी रूपक से बात समझी जा सकती है—काव्य का शरीर और उसकी आत्मा दोनों ही चेतना की धरती पर उभरते हैं जबकि देह और मन की दूरी जड़ और चेतन की सी दूरी लगती है। दोनों की सत्ता का स्वरूप ऐसा अलग जान पड़ता है कि दोनों को भिन्न कोटियों में रखती हुई एक स्पष्ट विभाजन-रेखा मानो बोध में जागती है। पर संस्कृति के शरीर और आत्मा दोनों में ही चेतना जागती दिखती है। संस्कृति का शरीर और आत्मा दोनों ही साध्य हैं—काव्य की तरह कृतियाँ हैं। तो भी दोनों में तारतम्य ही नहीं उभरता दिखता, एक आधार-आधेय-भाव भी गोचर होता है—व्यवहार की धरती पर पुरुषार्थ का क्षितिज बनता है।

हम मनुष्य के साध्य की बात करते हैं तो अर्थ-संधान की भूमा पर दृष्टि रखते हैं। पर जो हम वास्तव में साधते रहते हैं वह क्षितिज जैसा उदार और उदात्त कम ही होता है। अक्सर घिरा-घुटा, तुच्छ, फल्गु होता है। अपनी बात के शुरू में मैंने मीडिया के कृतित्व की बात की जहां एक वर्चुवल—या

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नाट्यधर्मी—'पब्लिक' जगत् का निर्माण होता है। उस सन्दर्भ में भी 'व्यवहार' शब्द का प्रयोग किया था—आज के पब्लिक को नाट्यधर्मी व्यवहार का नाम दिया था। उसे ऐसी कृति कहा था जिसमें सहज को कृत्रिम बना देने का अपार और 'लोकप्रिय' शिल्प है। मीडिया-निर्मित व्यवहार-लोक मानो मनुष्य के निसर्ग व्यवहार-लोक को ही एक नट का मुकुट सा पहना देता है। यह पब्लिक लोक मनुष्य की जिजीविषा की उन इच्छा-आकांक्षाओं-प्रवृत्तियों की नींव बनता है जो संस्कृति की व्यवहार-भूमि पर मनुष्य की स्वभाव-सिद्ध चिरन्तन प्रवृत्तियाँ हैं, जहाँ से पुरुषार्थ-यात्रा का आरंभ होता है। मीडिया इसी को जैसे पुरुषार्थ का गन्तव्य बना देता है। तभी इसमें कई लोग आज मीडियोक्रिटी या घासलेट का साम्राज्य देखते हैं। पर शिकायत करने वालों को भूलना नहीं चाहिए कि जैसा मानवतावादी राजधर्म हमने आज पुकार-पुकार कर स्वीकारा है वह तो इसका समर्थन ही करता है : इस राजधर्म का आदर्श मनुष्य को निरे मनुष्य होने के नाते ही ताज पहना देना है, मर्यादा-पुरुष बना देना है।

काव्य की बात की है, कुकाव्य की भी बात करना चाहता हूँ—'पब्लिक' या मीडिया-लोक के एक मूर्धन्य रूप विज्ञापन पर कुछ कहना चाहता हूँ। विज्ञापन के मीठे-चीकट, गिलगिले घसलेट की भर्त्सना की ही जाती है (हालांकि विज्ञापन की स्वीकृति भी आज सहज है। अचंभा नहीं कि गोएटे का फाउस्ट भी आज टी वी पर दिखाया जाए तो विज्ञापनों की भड़कीली चमक में कहीं खोया हुआ दिखाया जाएगा और किसी 'बुद्धिजीवी' को इस पर अचंभा नहीं होगा—आखिर विज्ञापन ही तो प्रस्तुति को संभव बनाता है!)। कविता और संस्कृति का रूपक मन में रखें तो विज्ञापन के लिए घटिया कविता या 'कुकाव्य' की बात मन में आती है। विज्ञापन को कुकविता ही कह सकते हैं, कविता की कोटि से उसे हटा नहीं सकते। पण्डितराज जगन्नाथ के शब्दों में, उसमें एक 'चमत्कार' होता है जो कौशल से साधा जाता है और जो चित्त को झट अपनी ओर मोड़ता है—पण्डितराज तभी पहेली को भी काव्य की कोटि में रखते हैं, चाहे काव्य के गर्त में ही इसे क्यों न धकेलते हों। विज्ञापन में अभिधा और लक्षणा दोनों अर्थों में शरीर ही प्रधान होता है—आत्मा को भी शरीर ही में घसीट लिया जाता है : कविता का शरीर वहाँ ऐसा मोहमय इन्द्रिय-ग्रस्त शरीर होता है कि हमें शरीरमय कर देना चाहता है। फिर भी उसे अ-काव्य नहीं कह सकते। अ-काव्य हो तो हमें खींचेगा ही नहीं। हम कहें कि कविता की आत्मा वहाँ होती ही नहीं—तो क्या कहना चाहेंगे? यही न कि चेतना के ऊर्ध्वतर स्पन्द के लिए वहाँ आकाश ही नहीं है। फिर भी वहाँ स्पंद का अभाव भी नहीं है। विज्ञापन हमारे देह-प्राण को हमारा आत्म-सर्वस्व बनाने का जादू

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

साधता है—और हम जान- बूझ कर उसके वर्चुअल जगत् में सास्वाद विचरते हैं। मीडिया हमें 'कान्तावत् उपदेश' से फुसलाना चाहता है कि हमारा जिजीविषा का व्यवहार-लोक ही सब कुछ है, पुरुषार्थ-लोक कुछ होता ही नहीं। हमारी मानवतावादी मानव-सर्वस्व संस्कृति, हमारा जनताजनार्दनी राजधर्म यहाँ मीडिया के साथ ही होता है। वह जनता की अदालत क्या जो विज्ञापनों पर न पले!

यहाँ फाउस्ट को फिर आगे लाना चाहता हूँ। मैंने ऊपर जान बूझ कर सत्ता के सन्दर्भ में समष्टि की बात उठाई, जो मुझे लगता है फाउस्टियन मैन की चर्चा में उठाई ही जानी चाहिए पर उठाई नहीं जाती। पर फाउस्टियन मैन को छोड़िए, फाउस्ट को लीजिए (मैं गोएटे के फाउस्ट को ही ज्यादा आगे रखूंगा), तो एक बात और है जो इस सन्दर्भ में लक्षणीय है --- इस बात को तो उभारा जाता ही होगा, रमेश जी ने भी अपनी तरह से उभारा है। फाउस्ट में हम एक पुरुषार्थ का आदर्श पाते हैं। अब, व्यवहार-लोक अगर समष्टि-प्रधान है तो पुरुषार्थ-लोक व्यष्टि-प्रधान। पुरुषार्थ-साधना का आधार व्यक्ति होता है। यह बात और है कि व्यक्ति-चेतना वहाँ निर्वैयक्तिक होती है, या यों कहिए व्यक्ति-मात्र-निष्ठ होती है और यों हर व्यक्ति में संभव होती है। तभी वहाँ इच्छा-आकांक्षा की नहीं विवेक की और प्रमाण-व्यापार की बात साधना के केन्द्र में रहती है।

आधुनिक काल में पुरुषार्थ-साधना ने एक नया रूप पाला है—व्यक्तित्व-साधना का रूप। आज की व्यक्तित्व-साधना क्या है, फाउस्ट के चरित्र में इसका एक प्रधान निदर्श और आदर्श दिखता है। थोड़ा हट कर देखिए तो विचित्र, विरोधी सा आदर्श है। व्यक्ति ही पुरुषार्थ साधता है—चाहे मोक्ष ही क्यों न हो, जहाँ कि व्यक्ति ही नहीं, उसका समूचा संसार विलीन हो जाता है। दूसरे पुरुषार्थों में भी व्यक्ति नहीं जो साधा जाता है, ज्ञान, कर्म, भाव, विचार, ये और इनका औचित्य ही प्रधान होता है। तो फिर व्यक्तित्व-साधना क्या है? फाउस्ट को देखिए। दो बातें साफ ही दिखती हैं। एक तो साधारण मनुष्य की प्रवृत्तियाँ पालते हुए भी असाधारण होने की ललक—बल्कि साधारण मनुष्य की अवज्ञा : उसे (पुराने शब्दों में) कोरे 'प्रवाह का जीव' या 'पृथक्-जन' समझना। उसके अनात्मचेतन-से जीवन को, उसकी रहनी को, हिकारत की आँख से न भी सही, पर नितान्त तुच्छ दृष्टि से देखना। उससे अलग, लौकिक जीवन की ही एषणाओं को एक असाधारण (और यों एक अर्थ में अलौकिक) विस्तार, मनोऽभिनिवेश और दंभ के साथ साधना। गोएटे के फाउस्ट में व्यक्ति और उसके भोक्तृत्व को आधार बनाकर एक नूतन विशाल प्रवृत्ति-मार्ग की आराधना का संकेत है, जो साधारण भोग-मार्ग को ही पुरुषार्थ का 'लोकोत्तर पंथ' बना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

देना चाहता है—साधारण प्रवाह से बाहर होना अपने आप में एक साधना-मार्ग बन जाता है। लोक-साधारण या लोकायत भोग-लालसा, जिसमें फाउस्ट अन्यथा कोई अर्थ नहीं देखता, वही इस भोगमार्ग में जैसे एक और भूमि पर उठना चाहती है—अपनी उग्र-तीव्रता में ही 'सार्थकता' ढूँढती है। गोएटे के फाउस्ट के आरंभ में ही एक दृश्य है जहाँ फाउस्ट अपने विदूषक से शिष्य के साथ एक मेले में जाता है और साधारण जीवन की चाशनी में उतरता है। वहाँ एक उसे नीरस मिठास, एक चिकनी तुच्छ जिजीविषा का थोथा जीवन दिखाई देता है जिससे उसे घोर निर्वेद होता है। वह अलग धातु का बना हुआ है। साधारण से अलग उड़ान चाहता है। वह शिक्षित था, शिक्षक था, ज्ञान और विद्या का अभ्यासी था, पढ़ते-लिखते अधेड़ हो गया था, पर अब अपने-आप को भीतर से जड़-जर्जर पाने लगा था। किताबों के निर्जीव अक्षर अब उसे काटने दौड़ते थे। उसके भीतर यह तीखा बोध जाग उठा था कि जिस सत्य के लिए इनको साधता-मथता रहा है उन काग़ज़ों के ढेर में उस सत्य की कोई कुंजी नहीं है (पोथी पढ़ पढ़ जग मुआ—यह उसकी चेतना की आर्त पुकार हो उठी थी)। पर जीवन से निर्विण्ण हो कर भी वह आत्मघात में असमर्थ था—उसकी जिजीविषा में अभी जान थी। तो वह किया क्या चाहता था? क्या था उसका पुरुषार्थ? उसे किधर का इंगित देता था उसका निर्वेद?

यहाँ उसके चरित्र का दूसरा पक्ष देखिए (जो शैतान के सामने खुलता है)। हम पाते हैं कि उसे सत्य-वत्य की ऐसी कोई बुभुत्सा नहीं थी। परलोक वह मानता नहीं था। इहलोक और यहाँ की कामनाएँ ही उसके लिए सब कुछ थीं। पर हम यह भी पाते हैं कि उसकी आकाँक्षाएँ बड़ी असाधारण, बड़ी लोक-विलक्षण हैं। काम ही उसका पुरुषार्थ है पर उसे वह एक अनहोनी तीव्रता के साथ साधना चाहता है—भीड़ से हटकर, भीड़ के ऊपर तैरता हुआ। वह भोक्तृत्व का अनहोना सुपरमैन, या अधिष्ठातृ देव कहिये, वैसा कुछ होना चाहता था : हम देखते हैं कि बड़ी विचित्र, बड़ी विरोधमयी है उसकी वासना। वह मानव-वासना के गहरे से गहरे सागर की तह और तुंग से तुंग शिखर की पहुँच चाहता है।

शैतान के मुँह से कहे गए गोएटे के ही शब्दों को लीजिए : मनुष्य की प्रवृत्तियों का मनुष्य-रूप में—उसकी 'लौकिक' एषणाओं के भीतर भी—एक विराट्, निःसीम अनुभव-संसार है, जो दिन और रात (तमस् और प्रकाश) दोनों में पलता है। मनुष्य के अलावा किसी और का इस संसार में प्रवेश नहीं—विशुद्ध-अविनश्वर-प्रभुत्वमय-आनन्दमय, अद्वय ईश्वर का तो बिल्कुल भी नहीं। ईश्वर का लोक तमस्-हीन, विशुद्ध प्रकाश का लोक है और शैतान को ईश्वर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ने प्रकाशहीन तमस् का वासी बना दिया है (शैतान फाउस्ट से कहता है : ही ड्वेल्स इन स्प्लेन्डर सिंगल ऐंड अटरनल / बट अस ही थ्रस्ट्स इन डार्कनेस, आउट ऑफ साइट डार्कनेस, आउट ऑफ साइट / ऐंड यू ही एन्डावर्स विथ डे ऐंड नाइट (सीन 4). (ईश्वर स्वयं नित्य अद्वय प्रकाश में रहता है पर हम आसुरी शैतानों को उसने अँधेरे में धकेल रखा है, पर तुम मनुष्यों को उसने दिन और रात दोनों का दान दिया है)। फाउस्ट मनुष्य के अँधेरे-उजाले के समग्र का सघन, तीखे से तीखा अनुभव चाहता है—इसके ऊँचे से ऊँचे, नीचे से नीचे, द्वेष-राग, पीड़ा-प्रहर्ष, आतंक-आश्वासन, इन सबके भोग में आप्तकाम होना चाहता है, उसे वह साधारण आमोद-प्रमोद नहीं चाहिए जो साधारण जन की भोग-कामना की सीमा है। (अपनी कामना फाउस्ट शैतान को इन शब्दों में बताता है : बट दाउ हैस्ट हर्ड', टिस नॉट ऑफ जॉय वी आर टॉकिंग,/ आइ टेक द विल्डरिंग ह्वर्ल, एंजायमेन्ट्स, कीनेस्ट पेन,/ एँनैमर्ड हेट, एग्जिहलरेंड डिसडेन, / ... ऐंड ऑल ऑफ लाइफ फॉर ऑल मैनकाइंड क्रियेटेड / शैल बी विदिन माइन इन्-मोस्ट बीइंग टेस्टेड : / द हायेस्ट, लोएस्ट फॉर्म्स माइ सोल शैल बॉरो,/ शैल हीप अपॉन इट्सेल्फ देयर ब्लिस ऐंड सॉरो,/ ऐंड दस, माइ ओन सोल सेल्फ टु ऑल देयर सेल्व्स् एक्सपैंडेड, आइ टू, ऐट लास्ट, शैल विथ देम ऑल बी स्ट्रैंडेड! (पर देखो, तुमसे मैं कह चुका हूँ, हम बात सुख-आस्वाद की नहीं कर रहे हैं। मैं तो इस चकरा देने वाले भँवर में कूद पड़ना चाहता हूँ—मुझे चाहिए आनंद की तीखी से तीखी वेदना, अनुरागमय द्वेष, हर्ष-विह्वल तिरस्कार ... जीने का वह सारा अगाध अनुभव जो सारी मनुष्य जाति को हो सकता है, वही मेरे अंतरतम की कसौटी होगा—अनुभव का ऊँचे से ऊँचा शिखर और नीचे से नीचा अंधलोक, सब तक मुझ अकेले की पहुँच होगी—मेरी आत्मा मनुष्य-सर्वस्व के सुख और दुःख को अकेले अपने भीतर समो लेगी और मेरा आपा फैल फैल कर सबके आपे को अपना लेगा—और फिर अंत में मैं सब के साथ निरालंब, निस्सहाय हो जाऊँगा।)

कहना न होगा कि यहाँ हम एक अपूर्व-नूतन व्यक्ति-धर्मी, लोक-धर्मी, मानव-धर्मी प्रवृत्ति-मार्ग का सशक्त शब्दों में संकेत पाते हैं। यही फाउस्टियन मैन का आधुनिक आदर्श है। दिखता ही है कि इसकी पूर्ति किसी एक व्यक्ति के अनुभव में हो भी तो बड़ी न-कुछ सी ही हो सकती है—मानव-व्यक्ति मानव-समग्र को कैसे समो सकता है? कल्पना में और साहित्य में जहाँ हम अपने ही नहीं दूसरों के भी द्रष्टा-भोक्ता हो सकते हैं वहीं इसकी कोई सार्थक पूर्ति हो सकती है : यूरोप के आधुनिक साहित्य की मानव-निष्ठ, पर अनुभव-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

गंभीर और अनुभव-विराट् समृद्धि की ओर रमेश जी ने इंगित किया है। वहाँ गोएटे का फाउस्ट झलकता है—मानव- व्यक्तित्व के सब आँगन खोलता फाउस्ट। गोएटे से पहले जो फाउस्ट की कहानी थी (जिसके कई रूप मिलते हैं, कुछ कठपुतलियों के खेल में अब भी जर्मनी में दिखाये जाते हैं) उस कहानी में फाउस्ट की भोगलिप्सा में ऐसी कोई जटिल-प्रगल्भ, जटिल-विलक्षण बात नहीं है जो हम गोएटे के फाउस्ट में पाते हैं। जैसी भोगलिप्सा पुराने फाउस्ट में है वह हमारी कहानियों के तांत्रिकों और सिद्धों में भी मिल जाएगी—यन्त्र-मन्त्र, टोने-टोटके और भूत-प्रेत-सिद्धि के बूते जाने-पहचाने मनवांछित भोग भोगने की शक्ति। अंतर यह है कि यहाँ शैतान की जगह भूत-प्रेत-वेताल हैं। यन्त्र-मन्त्र, टोना-टोटका फाउस्ट की कहानियों में भी है और गोएटे में भी है। पर गोएटे की कहानी में एक भाव-गम्भीर दार्शनिक की व्याकुलता है जो उसके पहले नहीं मिलती। जिस अनुभव-लोक का फाउस्ट डूब कर द्रष्टा-भोक्ता होना चाहता है उसकी नश्वरता, क्षणभंगुरता के प्रति वह पूरा सजग है—फिर भी उसके प्रति वह एक विचित्र निर्वेद-भरा मोह पालता है—यही उसकी 'इहलौकिक' व्यक्ति-साधना है। लगता है फाउस्ट प्रतीत्यसमुत्पाद के भंगुर स्रोत तक जा पहुँचना चाहता है, मानो नश्वरता के स्वलक्षण-गर्भ में ही साक्षात् उतर जाना चाहता हो। वह शैतान से मांग करता है : शो मी द फ्रूट्स दैट एँयर दे आर गैदर्ड, रॉट/ ऐंड ट्रीज़ दैट डेली विथ न्यू लीफ़ेज क्लोद देम, (सीन 4) (मुझे वे फल दिखाओ जिन्हें चुनो तो हाथ में आने से पहले सड़-सूख जाते हैं, और वे पेड़ जो इन फलों को नित नए पत्तों का बाना पहनाते हैं।) हम कह सकते हैं कि यह आज की, नितांत मानव-निष्ठ, ईश्वर के शव पर बैठी, नश्वर, इहलौकिक व्यक्तित्व-साधना का बड़ा चुटीला रूपक है। और यह भी कह सकते हैं कि इस साधना के पीछे उस मानस की भी प्रेरणा है जिसने अठारहवीं सदी के फाउस्ट को गोएटे के बहाने जन्म दिया।

फाउस्ट के मिथक को शायद इसी दृष्टि से देखते हुए फाउस्टियन मैन की बात की जाती है—और वहाँ 'आधुनिक' व्यक्तित्ववाद के आदर्श का मर्म देखा जाता है। फाउस्टियन मैन मानव-व्यक्तित्व का, उसकी स्वयंभू सम्भावनाओं का आत्मनिष्ठ, आत्मचेतन, सेक्युलर साधक है और हाँ, शक नहीं कि यह एक पश्चिमजात आधुनिक आदर्श है।

यहाँ यह भी नहीं भूलना चाहिए कि फाउस्ट के रूप में व्यक्तित्व-साधना का यह प्रगल्भ-जटिल आदर्श गोएटे के साथ अठारहवीं सदी में ही अवतरित होता है। उसके पहले निष्प्रभ है—अकिंचन-सा ही है। आधुनिक फाउस्ट की कल्पना में गोएटे से पहले यह मार्लो का नाम लिया जाता है। मार्लो शेक्सपियर के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

समकालीन थे। उनका भी आधुनिकता के चारण-वैतालों में नाम लिया जाता है। पर मार्लो के फाउस्ट को देखिए, मीडियोकर है—एक छिछोर सी तस्वीर उभरती है, जिसे किसी भी आदर्श का मिथक नहीं कहा जा सकता है। फाउस्ट दूसरे सब ज्ञान-विज्ञान को नकारता हुआ, ईश्वर को नकारता हुआ, ईसाईयत में 'निषिद्ध', 'शैतानी' अथर्वण विद्या—जादू टोना—सीखता और साधता है। शैतान (लुसिफर) का दूत मेफिस्टोफिलिस उसके पास आता है। फाउस्ट अपनी आत्मा के बदले हर इच्छा-पूर्ति का सौदा चाहता है जिसका चाहे विनाश करे, जिसको चाहे बनाए। सौदे पर मुहर लगती है, फाउस्ट खून से हस्ताक्षर करता है : तय होता है कि चौबीस साल तक लुसिफर फाउस्ट की चाकरी बजाएगा, जो फाउस्ट चाहेगा करेगा और इस समय के बाद फाउस्ट अपना शरीर और आत्मा लुसिफर को सौंप देगा, नर्क लोक में सदा के लिए लुसिफर का दास हो जाएगा। फाउस्ट मेफिस्टोफिलिस से नर्क के बारे में पूछता है—क्या है, कहाँ है? मेफिस्टोफिलिस नर्क को सनातन यातना का अधोलोक बताता है, जहाँ पावन दैवी उद्धार का स्पर्श नहीं पहुँचता। फाउस्ट कहता है, मुझे नर्क वर्क में विश्वास नहीं—जब तक मृत्यु न हो, यह लोक है, फिर कोई लोक नहीं, कोई यातना नहीं, परलोक की बात बुढ़िया-पुराण है। मेफिस्टोफिलिस इतना ही कहता है—चलो, देख लेना। फिर कहता है, पर देखो मैं तो हूँ न, नर्क का जीव! फाउस्ट पर असर नहीं पड़ता, कहता है कि यों ही तुम्हारे साथ टहलना, बहस करना, यही नर्क है तो, ज़िंदाबाद! अपनी पहली इच्छा वह शैतान के आगे रखता है : मुझे एक बीवी ला दो, जर्मनी की सबसे खूबसूरत लड़की। पर मेफिस्टोफिलिस शादी-ब्याह को ढकोसला बता देता है। विवाह जैसे कर्मकाण्ड के खोखलेपन पर टिप्पणी कसने लगता है, पर फाउस्ट की पहली ही इच्छा पूरी नहीं करता जिसके लिए अभी अभी आत्मा का सौदा किया था। और फाउस्ट का ही देखिए, उसी की काम और सौन्दर्य-पिपासा को लीजिए। ब्याह! बस इतने-से के लिए आत्मा बेची थी! आगे और भी खुलता है कि शैतान की इच्छा पूरने की बात और फाउस्ट का इच्छा-लोक दोनों ही खोखले हैं। दोनों की वृत्ति एक ढकोसला है। दोनों एक प्रहसन-सा खेलते हैं, एक फार्स, एक छिछोर तमाशा, जिसमें शैतान कुछ जादू-टोने का करतब दिखाता है और फाउस्ट भाँड-विदूषक के रूप में छूँछे हथकंडे साधता है। आप आत्मा बेचें तो चाह में कोई बड़ी बात, कुछ विशाल विराट् तो होना चाहिए—कम से कम साधारण को पीछे छोड़ता हुआ अभूतपूर्व तो कुछ हो? मार्लो के फाउस्ट में हम ऐसा कुछ नहीं पाते। फाउस्ट अगर समर्थ प्रतीक है, मिथक है—युग मिथक—तो अनायास ही आकांक्षा जागती है कि फाउस्ट की ज्ञान और सत्ता-पिपासा में अपनी तरह का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

महत् कुछ होना चाहिए। किसी अनूठे असीम का न सही, किसी नए दिगंत का संकेत तो हो—भोग का ही नया आयाम सही। उसकी सत्ता की प्यास, चलिए, त्रिलोकी जीत लेने की न सही, कम से कम सिकंदर, नेपोलियन के बराबर तो हो ही। फाउस्ट विद्वान था, पर मंतर-टोने की तन्त्र-विद्या को ही विद्या मानने लगा था और विद्याओं से उसे अरुचि हो गई थी। तो भी खगोल विज्ञान की जिज्ञासा जागरूक थी। मेफिस्टोफिलिस से वह ग्रह-नक्षत्रों के स्वभाव, स्थान और गति के बारे में प्रश्न पूछता रहता है। मेफिस्टोफिलिस के उत्तर तत्कालीन जानकारी के सधे सधाए उत्तर हैं। किसी लोकोत्तर सर्वज्ञ या आप्तविद् के उत्तर नहीं हैं, जो रहस्य की बात बतायें—जैसी कि आशा जग सकती है। फाउस्ट के मन में इन उत्तरों से संतोष भी आधा-सादा सा ही होता है—ज्ञान का कोई नया चमत्कार करवट नहीं लेता। किसी भी गूढ़ प्रश्न का (संसार किसने बनाया?) इसका मेफिस्टोफिलिस के पास कोई उत्तर नहीं। वह प्रश्न को ही व्यंग्य और चतुराई से टाल जाता है। उभरता यही है कि न फाउस्ट में कोई उत्कट ज्ञान-जिज्ञासा है, न शैतान के पास कोई देने-लायक ज्ञान।

मार्लो आधुनिक काल के उस पड़ाव पर थे जब विज्ञान की नई प्रश्न-विकल ज्ञान-यात्रा के काल का आरंभ हो चुका था। धर्म की पुरानी रूढ़ बेड़ियों पर चोट करती हुई बुभुत्सा की एक सर्वथा नवीन प्रतिभा युक्तिकल्पना के सहारे प्रकृति के प्रत्यक्ष में साक्षात् डूब जाना चाहती थी—नए सिद्धान्त, नए संशयों के क्षितिज खोलने लगी थी। आशा स्वाभाविक है कि मार्लो के फाउस्ट में इस प्रतिभा की झलक होगी। पर है नहीं। हाँ, कह सकते हैं कि फाउस्ट में धर्म के प्रति एक विद्रोह है, ईसाइयत के प्रति विद्रोह—एक 'हितकामी' फरिश्ता बार-बार आकर फाउस्ट को ईसाई ईश्वर और यीशु क्रिष्ट की ओर खींचना चाहता है, अनंत उद्धार-हीन नर्क की विभीषिका से फाउस्ट को डराता है, फाउस्ट डिगता भी है, पछताता भी है, विशेष कर मृत्यु-काल के पास आने पर, लेकिन शैतान का पल्ला नहीं छोड़ता। पर काहे के लिए? उसका धर्म-विद्रोह डाकिनी तन्त्र जैसे ईसाईयत में निषिद्ध जादू-टोने में घिरा रह जाता है, जिसे चर्च शैतानी शै मानता था। इससे आगे नहीं बढ़ता। अब ऐसे विद्रोह में ऐसी क्या महिमा है जिसे किसी भी तरह का मिथक कहा जा सके, समझ में नहीं आता (एक प्रहसन जैसे दृश्य में फाउस्ट मन्त्र के बल अदृश्य रूप धरता है और पोप के महल में जा घुसता है, भौंडी चुहलें करता हुआ पोप को छेड़ता-छकाता है और पोप पर दो एक घूँसे जमा के खुश हो लेता है)। फाउस्ट के इस छिछोर विद्रोह में नए युग का कोई संकेत है भी तो उसका कोई सार्वभौम महत्त्व नहीं, धर्म के सन्दर्भ में भी नहीं। क्योंकि विद्रोह ईसाईयत और क्रिष्ट और इनके चर्च

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तक सीमित है। कोई और धर्म हो—जैसे हिन्दू धर्म या बौद्ध धर्म—तो जादू-टोना साधने में क्या अनहोना रूढ़ि-तोड़ धर्म-द्रोह का स्वर गूँजेगा? दूसरे धर्मों में जादू-टोने का ईश्वर-द्रोह से कोई सम्बन्ध नहीं है। हिन्दू और बौद्ध धर्म में जादू-टोने को तुच्छ सिद्धियों का साधन तो माना जाता है पर उसमें कोई आसुरी शक्ति नहीं देखी जाती। बड़े-बड़े असुर ईश्वर का सिंहासन हिला कर ब्रह्माण्ड-विजय की साध पूरी करना चाहते हैं तो निरर्थक जादू-टोने से नहीं, तपस् के वीर्य से करते हैं। या 'असुर' चार्वाक की तरह विचार के तेज से करते हैं।

पुराणों के असुर जहाँ तपस् से सत्ता का प्रभुत्व साधते हैं, फाउस्ट (और उसका आत्मप्रभु मेफिस्टोफिलिस) जादू-टोना करता है। जैसा तुच्छ साधन वैसी ही सिद्धि भी मिलती है। पर फाउस्ट की साध भी वैसी ही बौनी सी दिखाई देती है। आप सोचेंगे, और कुछ न संही कहीं का राजपाट तो साधता ही होगा, शैतान को आत्मा जो बेची है। पर हम पाते क्या हैं? फाउस्ट बाजीगर की तरह राजा के लिए सिकंदर और उसकी प्रेयसी को सशरीर दरबार में ला खड़ा कर कृतकृत्य हो लेता है। अपने दरबारी दुश्मनों के मुँह जानवरों जैसे बना देता है और ठाकुर-सामंतों को रानियों को जाड़े में बेमौसम अंगूर खिलाता है, इनाम पाता है, मुराद पूरी कर लेता है। अपने इन बाजीगर-भाँड जैसे करतबों पर कुछ दिन इठला लेता है—जब तक शैतान उसे घसीट कर सदा के लिए ले नहीं जाता।

शैतान की शक्ति गोएटे में भी जादू-टोने तक ही सीमित है, पर जैसा हमने देखा, वहाँ एक नए आदर्श का दर्शन है जो उसकी कविता को महत् कर देता है।

मेरे विचार की दिशा में एक बात किसी को अटपटी लग सकती है : मैंने फाउस्टियन मैन को समष्टि-मानव बताने का बीड़ा उठाया था और निदान को व्यष्टि पर ही आ ठहरा हूँ। गोएटे को ही अगर मैं फाउस्ट-कथा का सच्चा आधुनिक प्रतिपादक मानता हूँ और साथ ही यह भी मानता हूँ कि गोएटे का फाउस्ट व्यक्तित्व-साधना के एक नए अनूठे आदर्श का प्रतीक है तो फिर प्रकट ही बात समष्टि से हट कर व्यष्टि पर आ जाती है। ठीक है, किसी भी आदर्श की तरह व्यक्तिवाद का आदर्श भी सब के लिए (समष्टि के लिए) होता है, सर्वसामान्य आदर्श होता है, पर आदर्श का विषय व्यष्टि ही है, समष्टि नहीं। कोई राष्ट्रगत आदर्श हो, जैसे साम्राज्य सत्ता-विस्तार, तो यह समष्टि का आदर्श या एषणा हो सकती है, लेकिन व्यक्तित्व की साधना तो व्यष्टि को ही आधार करेगी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इस तर्क के उत्तर में व्यष्टि-समष्टि के सम्बन्धों की विवेचना करते हुए कहा जा सकता है कि भाषा की तरह आदर्श का आधार तो समष्टि ही होती है। व्यष्टि समष्टि को ऊह्य रखता हुआ समष्टि की धरती पर ही उभरता है—समष्टि के बिना व्यष्टि क्या? आदि। पर इस बहस में मैं नहीं जाऊँगा, और फिर कह ही चुका हूँ कि फाउस्टियन मैन को जब हम युग-मानव के रूप में देखना चाहते हैं तो बात समष्टि की ही बनती है। पर दिलचस्प बात यहाँ एक और है। गोएटे का फाउस्ट दो भागों में है। दूसरे भाग की आम तौर पर उपेक्षा की जाती है (मैं भी करता ही, पर फाउस्ट का जो पुराना संस्करण देख रहा था उसमें दोनों भाग एक साथ थे)। काव्य की दृष्टि से दूसरा भाग वैसा मोहक है भी नहीं। वहाँ भावना से अधिक बुद्धि का बोलबाला है। पर काव्य जैसा भी हो, कहना न होगा कि गोएटे का फाउस्ट उस भाग के बिना अधूरा है। संयोग की ही बात थी, लेकिन बहुत अच्छा हुआ कि मैंने उसे देखा। बड़ी खुशी हुई। इस बात की कि मैं जो समष्टि समष्टि कर रहा था, उसकी गोएटे में भी प्रतिध्वनि है। मैंने पाया कि गोएटे के दूसरे भाग का विषय समष्टि है—बल्कि समष्टि ही नहीं राजधर्म है।

गोएटे अपनी तरह का प्रवृत्तिवादी कवि ही नहीं विचारक भी था। उसका व्यक्तित्व-साधना का आदर्श प्रवृत्ति का ही आदर्श है, निवृत्ति का नहीं—वैसे भी 'आधुनिकता' निवृत्ति से घबड़ाती है (तभी सोमराज उसे अपनी तरह से निवृत्ति का संदेश सुनाना चाहते हैं)। भारत में निवृत्ति-प्रवृत्ति का जैसा संघर्ष रहा है, अन्यत्र नहीं रहा है। वैदिक-पौराणिक साहित्य प्रवृत्तिवाद में पला है। उसने निवृत्तिवाद का विरोध भी किया है। पुराणों ने निवृत्तिवाद में विसंगति दिखाते हुए युक्ति दी है कि गृहस्थधर्म, जो प्रवृत्तिधर्म का आधार है, मानव मात्र के लिए अनिवार्य है, निवृत्ति की परम्परा भी उसके बिना नहीं बन सकती। पर गृहस्थधर्म से भी बढ़कर राजधर्म के बिना प्रवृत्ति अधूरी है। हम पाते भी हैं कि इतिहास-पुराण के प्रवृत्ति-विचार में राजधर्म विचार की नाभि है—जैसा कि **महाभारत** में तो स्पष्ट ही है। राजधर्म के बिना ऐसे किसी भी प्रवृत्तिवाद की बात नहीं हो सकती जो मानव के समग्र को समेटता हो। आज के सब व्यक्तिवादी ऐसा न मानते हों, स्पष्ट है कि गोएटे मानते थे। गोएटे की समग्र को समेटती दृष्टि फाउस्ट के दूसरे भाग में प्रतिष्ठा पाती है। गोएटे के समय एक और व्यक्तिवाद का उदय होने लगा था—राज्य-निषेधवाद का अनार्किस्ट व्यक्तिवाद। इस विचारधारा का उदय 18वीं सदी में हुआ और 19वीं सदी में यह पुष्ट-प्रखर हुई। यूरोप के विचारकों पर छा सी गई। यह व्यक्तिवाद राजधर्म को व्यक्ति-स्वातन्त्र्य में मूलगत व्यवधान मानता है—राष्ट्र के होने को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ही सच्ची मानव-प्रवृत्ति और जिजीविषा के लिए अशिव और निवार्य समझता है। पर गोएटे को, इसके विपरीत, यह गहरा बोध था कि राजा, राज्य, राजधर्म, इनके बिना मानव-प्रवृत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। फाउस्ट के (दूसरे भाग में) नाटक के अंत से पहले हम पाते हैं कि फाउस्ट एक भूमिपति बन गया है और रामराज्य जैसी किसी धर्म-व्यवस्था की ओर प्रवृत्त है। नाटक का अंत तो बिल्कुल कालिदास के **अभिज्ञान शाकुंतलम्** से लिया जान पड़ता है : फाउस्ट को शैतान नहीं फरिश्ते ऊपर ले जाते हैं, जहाँ उसका अपनी प्रिया मार्गरेट से पुनर्मिलन होता है। नाटक के दूसरे भाग में बागडोर शैतान के नहीं, फाउस्ट के हाथ में है : शैतान (मैफिस्टोफिलिस) फाउस्ट की शिव-साधना का एक उपाय बन गया है—धर्म के औचित्य की ओर बढ़ने का एक दैव-द्वार—और उसका अनृत (ईविल) स्वभाव अक्षम, अप्रासंगिक हो गया है। फाउस्ट की आत्मा ऋत के हाथों पड़ कर अनृत से छूट गई है।

गोएटे ने फाउस्ट को एक जटिल-कर्बुर बहुरंग वर्णिकाभंग के साथ प्रस्तुत किया है। इसी में एक वर्ण व्यक्तिवाद का है जिसमें व्यक्तित्व-साधना का एक नया उत्कट मानववादी रूप उभरता है—ऐसा रूप जो 'आधुनिक' भी है और 'फाउस्टियन' भी। पर समष्टि के लिए स्वयं गोएटे ने जगह बनाई है। गोएंटे की पूरी कहानी को लीजिए तो व्यष्टि-चिंता से अधिक समष्टि-चिंता ही केन्द्र में आती दिखती है। कहानी के आरंभ में 'मैन' को एकवचन में ही लिया गया लगता है, पर दूसरे भाग में बहुवचन प्रधान होने लगता है, और इसके साथ राजा, राज्य और राजधर्म की ओर गोएटे का ध्यान मानो प्रवृत्तिवादी विचार की स्वभाव-गति से चला जाता है।

एक प्रश्न यहाँ, गोएटे के दूसरे भाग को पढ़ते हुए, मन में जागता रहता है : जिस सर्वतोमुखी व्यक्तिवाद का फाउस्ट के पहले भाग में उद्घोष है उसका दूसरे भाग के राज्य-चिन्तन से क्या सम्बन्ध है? क्या गोएटे ने किसी ऐसी व्यवस्था का प्रतिपादन किया है या कल्पना की है जो उनके व्यक्तिवाद को स्थान दे सके? मैंने जो देखा, ऐसा कुछ दिखा नहीं।. पर हम ही सोचें : ऐसी कैसी व्यवस्था हो सकती है? क्या सचमुच ऐसी कोई व्यवस्था हो सकती है जो व्यक्तिमात्र के लिए इहलौकिक अनुभवों के विराट् बहुवर्ण संसार का स्वच्छन्द भोग सुलभ कर दे? जिसमें हर व्यक्ति दूसरों से बिल्कुल अलग अपना निराला पर नितान्त पार्थिव और मानुषी व्यक्तित्व साधने में आजीवन रत रह सके? यह ठीक है कि आधुनिक व्यक्तिवाद अन्य सभी पुरुषार्थों की तरह सब के लिए साध्य है। पर इसके लिए कोई व्यवस्था हो, समझ में नहीं आता है। आधुनिक प्रजातन्त्र तो प्रजामात्र को एक ही साँचे में ढालने की व्यवस्था साधते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अचंभा नहीं कि अनार्किस्ट यह मानते थे कि राज्य-व्यवस्था के विगलन के बिना व्यक्ति-स्वातन्त्र्य सम्भव नहीं।

जो दो आधुनिक व्यवस्थाएँ व्यक्ति व्यक्ति जपती रही हैं, पूँजीवाद और कम्युनिज्म, उनमें एक तो व्यवस्था के विगलन के नाम पर व्यवस्था को आततायी की तरह और कसती रही है, उस व्यवस्था में व्यक्तित्व-साधना का प्रश्न ही नहीं उठता। वह व्यवस्था (राज्य को ही हथियार बनाकर) अनार्किस्टों की तरह राज्य का ही विगलन साधने चली थी, अब स्वयं विगलित हो गई है। दूसरी का आज बोलबाला है—वहाँ इहलौकिक अनुभव का व्यक्तिनिष्ठ भोगवाद भी है (भोगवाद और हो भी क्या सकता है)। पर वहाँ अलग व्यक्ति ही कहाँ दिखाई देते हैं जिनमें फाउस्ट का सा विस्तार-गाम्भीर्य हो? फाउस्ट के नकारे हुए निर्व्यक्ति, पृथग्जन, वामनों का ही पुंज दिखाई देते हैं : जिनकी चाल में वही सदियों पुरानी लोकायत भेड़चाल की भीड़ है। बल्कि सचमुच के व्यक्ति को कोई आदर नहीं—कवि, विचारक, लेखक सबको लगता भी है कि उनकी पूछ नहीं रही है—पूछ भाँडों की है, खिलंडरों की है। हममें से कई आज के पूँजीवाद के प्रजातन्त्र को आज की, व्यक्ति को अपूर्व महत्त्व देती, परम उपलब्धि मानते हैं। पर यह तो भीड़ का ही मनुहार करना जानती है। भीड़ ही साधती है और यह भीड़ का पब्लिक स्पेस आज व्यक्ति के प्राइवेट स्पेस पर आक्रांत है। वहाँ 'व्यक्ति' वही है जो पब्लिक में सम्मोहक छवि सँवार सके। ऐसे व्यक्ति का कोई प्राइवेट जैसा प्राइवेट—निभृत, सचमुच अलग, 'रहः'-स्पेस ही नहीं होता। पार्थिव ही सही, अनुभव के कैसे भी आकाश और पाताल साधता फाउस्टियन मैन तो यहाँ बेघर, बेचैन ही रह सकता है।

पर प्रश्न सचमुच यह है : क्या मैन की ऐसी कोई समष्टि हो भी सकती है जिसमें हर कोई (व्यक्तित्व-साधक) फाउस्टियन मैन हो? ऐसी समष्टि में मनुष्य मनुष्य के सम्बन्धों की क्या व्यवस्था होगी? परस्पर भाव का क्या आदर्श, क्या रूप होगा? व्यक्तित्व-साधक तो एक-दूसरे के विपरीत ही जाएंगे, उनमें कोई गहरा, सार्थक परस्पर-भाव किस सूत्र से उभरेगा? ठीक समझ में नहीं आता।

यहाँ इस प्रसंग में एक बात बार-बार विचार में कौंधती है। हम व्यष्टि और समष्टि की बात करते हैं (मैं भी यही करता आ रहा हूँ), पर किसी भी बड़ी समष्टि को लीजिये, हर समष्टि के भीतर कई और कई तरह के छोटे समुदाय होते हैं। सच पूछिये तो इन्हीं में हमारी रहनी होती है, इन्हीं में हम साँस लेते हैं। मनुष्य परम्परा-जीवी है और परम्परा समूह-जीवी है। समष्टि के भीतर जो अनगिनत समूह होते हैं वे ही परम्पराओं का वहन भी करते हैं, उनमें नया उन्मेष भी साधते हैं। समूहों के व्यूह को ही हम समाज या राष्ट्र कहते हैं। आज

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

का समाज-चिन्तन और राज्य-चिन्तन ऐसा व्यक्तिवादी है कि मनुष्य को केवल व्यक्तियों के जमघट के रूप में देखना चाहता है। उसके लिए एक समाज एक छोर पर राज्य है, दूसरे छोर पर व्यक्ति। वह ऐसे समूहों की बात नहीं करना चाहता जो विद्या-सम्प्रदायों की तरह व्यष्टि और समष्टि के बीच सार्थक इकाई हो। पर समष्टि के रूप में मनुष्य पर चिन्तन करना हो तो छोटे, घनिष्ट समूहों और उनके सम्बन्धों को ध्यान में रक्खे बिना बात नहीं बन सकती। मनुष्यों के बीच परस्पर-भाव का प्रश्न भी मैं समझता हूँ व्यक्ति-व्यक्ति का उतना नहीं जितना किसी न किसी अर्थ में एक संश्लिष्ट व्यूह बनाते हुए समूह-समूह का है ('समूह' शब्द को यों देखिए : सम्+ऊह, जिनका एक सा ऊह हो, एक सी कल्पना, एक से आदर्श हों)।

गोएटे पर फिर से आता हूँ। शैतान को इसलिए रूह बेचना कि बदले में मनमानी सत्ता मिले—**फाउस्ट** के 'मिथक' का बीज है (भोग और ज्ञान तो इस सौदे में सत्ता के ही अनुषंग हैं)। पर गोएटे ने जब शैतान को ही शैतान नहीं रहने दिया तो मिथक फिर कहाँ? या फाउस्ट के एक भाग को ही मिथक का बीज कहें? कहें भी तो बात में वैसा भरोसा कहाँ रहेगा! गोएटे के **फाउस्ट** में कहानी का मोड़ ही कुछ और हो गया है।

गोएटे ने शैतान की शैतानी को चाहे एक किनारे कर दिया हो पर हमारे लिए शैतान को भूलना ठीक नहीं। मैंने शुरू में ही सत्ता के बदले रूह बेचने वाले फाउस्टियन मैन को समष्टि के अर्थ में लेने की ओर बात को दिशा दी थी। एक और मोड़ देता हूँ। अगर मैन की समस्या—अब चाहे फाउस्टियन व्यक्तित्व-साधक मैन ही सही—अगर उसकी समस्या समष्टि से जुड़ी है—और जुड़े बिना रह नहीं सकती—तो मैन का शैतान को रूह बेच देने का क्या अर्थ होगा? हम स्वतन्त्र हैं तभी रूह बेच सकते हैं, बेचते ही आए हैं। जान-बूझ कर अधर्म करते आए हैं। फाउस्ट जहाँ का मिथक है, जिस विचार-तन्त्र का मिथक है, वहाँ शैतान 'ईविल' (आसुरी चेतना) का अधिष्ठातृ 'देव' है, या प्रतीक कहिए। 'अनृत' का या निऋति और अधर्म का असुर-देव।

पर गोएटे का शैतान स्वभाव से ही असमर्थ सा है। बुझा फीका सा। उसे शैतान कहते संकोच होता है। गोएटे के लिए शैतान अव्यवस्था या व्यवस्थाहीनता (केओस) का प्रतीक है। पर लक्षणीय है कि गोएटे उसे स्वभाव से ही क्षीणबल भी कहते हैं। ऋत की ईश्वरीय योजना के अन्तर्गत उसकी शक्ति को तुच्छ, अनिपुण मानते हैं—उनका शैतान स्वयं कहता है कि वह ईश्वर की व्यवस्था को बस इधर-उधर से खुरच भर सकता है, इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता। वह मनुष्य को अपने से बड़ा बताता है : दि मॉडेस्ट ट्रुथ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आइ स्पीक टु दी / इफ मैन, दैट माइक्रोकॉस्मिक फ़ूल, कैन सी / हिमसेल्फ अ होल सो फ्रीक्वेन्टली / पार्ट ऑफ द पार्ट ऐम आइ, वन्स् ऑल इन प्राइमल नाइट, / पार्ट ऑफ द डार्कनेस विच ब्रॉट फोर्थ दि लाइट, द हॉटी लाइट विच नाउ डिस्प्यूट्स द स्पेस, / ऐण्ड क्लेम्स ऑफ मदर नाइट हर एन्शेन्ट प्लेस। (अपनी कमज़ोरी की बात तुम्हें खरी-खरी कहता हूँ। आदमी पिण्ड में ब्रह्माण्ड समोये है, पर नादान है, फिर भी कितनी बार वह अपने आप को एक पूरे अवयवी के रूप में देख लेता है। मैं तो एक अवयव का भी अवयव हूँ। कभी जब अंध तमस् का राजा था, मैं ही सब कुछ था : उस आदिम तमस् में, जिसने प्रकाश को जन्म दिया—वह उद्दण्ड प्रकाश जो आज सारे आकाश को छेकने की ललक रखता है और तमस् की प्राचीन देवी के स्थान को छीनना चाहता है।) तो गोएटे का शैतान (मेफिस्टोफिलिस) उस अंधकार का—निष्प्रतीक तमस् का—प्रतीक है जो सर्ग या सृष्टि के कुछ प्राचीन मिथकों में सृष्टि के पहले अवस्थित था। सर्ग सम्बन्धी कुछ ग्रीक आख्यानों में इस आदिम अंधकार और उसके देवताओं की बात मिलती है, गोएटे ने शायद वहीं से ली है। आगे मेफिस्टोफिलिस कहता है : दि समथिंग ऑफ दिस क्लम्ज़ी वर्ल्ड, हैज़ येट / विथ ऑल दैट आइ हैव अन्डरटेकेन / नॉट बीन बाई मी डिस्टर्ब्ड ऑर शेकेन ... देयर इज़ नथिंग स्पेशल आफ माइ ओन टु शो। (कुछ है इस अटपटे जगत् में जो वज़न रखता है। मैंने कितनी ही चेष्टा की, पर उसे टस से मस नहीं कर सका। यहाँ मेरा किया ऐसा कुछ भी नहीं है जिसके लिए कह सकूं कि यह खास मेरा है!)। गोएटे का शैतान संसार की व्यवस्था में जादू-टोने और अपने कूटनीति-कौशल से कुछ छोटे-मोटे हेर-फेर कर सकता है। व्यवस्था की धरती में एक सुरसुरी सी जगा सकता है। कभी कभी फाउस्ट जैसे किसी भूले-भटके अकेले व्यक्ति की आत्मा के बदले एक छोटी सी सीमा तक उसकी इच्छा-पूर्ति भी कर सकता है, और कुछ नहीं। सच्ची सत्ता उसके हाथ में है ही नहीं, देगा क्या?

तो लग सकता है कि समष्टि में, जहाँ व्यवस्था (धर्म) प्रधान है, वहाँ ऋत का छंद टूट नहीं सकता, चाहे छोटे मोटे झटके आते रहें। शैतान इस छन्द को भंग नहीं कर सकता।

पर देखिए यहीं एक विषम विडम्बना है। हम मनुष्य के समष्टि-जीवन में एक ऐसे शैतान को जमा-बसा देखते हैं जिसका इलाज नहीं दिखता। और मनुष्य तो पहले समष्टि ही है।

समष्टियों का परस्पर-भाव स्वभाव से ही एक विचित्र से दोहरे, दुधारू विरोध में बसा दिखता है। हमारे पुराने चाणक्य, कामन्दक जैसे राजनीति के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

चिन्तकों में इस विरोध का गहरा बोध है। हमने देखा कि समष्टि को इकाई सत्ता देती है—उसका राजधर्म उसे एकशरीर करता है। पर राजधर्म की देह एक अनहोने अर्धनारीश्वर की तरह है, जिसमें मनुष्य-मनुष्य के बीच एक सहज परस्पर-भाव जितना गहरा है उतना ही एक सहजात परस्पर प्रतीप-भाव भी घुट्टी में पड़ा है। या अर्धनारीश्वर की जगह दूसरीं उपमा लेना ही ठीक होगा—हम एक बेढब अर्धशैतानेश्वर शिव की कल्पना कर सकते हैं—जहाँ सुर-असुर एकशरीर हैं। किसी भी समष्टि के भीतर और बाहर के सम्बन्धों में गहरा, सामंजस्यहीन भेद होता है। समष्टि के भीतर एक परस्पर भाव—एक सम्-ऊह्र होने का स्वभाव—अनिवार्य है, आपस के सम्बन्धों में मैत्री, करुणा की शिला पर खड़ा न्यायबोध दुर्निवार है। यह समष्टि का अन्तर्निष्ठ धर्म-पक्ष है। राजा या राजतन्त्र इस व्यवस्था का प्रतीक है, इसका 'धारण' करता है। अनिवार्यतः धारण करता है। तभी कहा गया है कि दस्युओं के समाज या समूह में भी किसी आपसी न्याय के बिना समूह नहीं बना रह सकता। थोड़ा भी सोच कर देखिए तो साफ है कि दस्यु किसी बड़ी अदस्यु-व्यवस्था का ही अंग हो सकते हैं। राज्य का स्वरूप ही है कि वह अपनी प्रजा का किसी अर्थ में रक्षण-पालन करेगा। भिन्न राज्यों में तारतम्य हो सकता है—बल्कि राज्यों में इस दृष्टि से घोर भेद होता ही है (हम आततायी राज्य और रामराज्यं की बात करते ही हैं), पर पालन-रक्षण और इसके साथ जुड़ी न्याय और सैन्य-व्यवस्था का अभाव नहीं हो सकता। यह व्यवस्था समष्टिमात्र का स्वयंभू स्वभाव है—राजा या कोई भी प्रजापालक व्यक्ति तो इसका निमित्त या वाहक ही होता है, व्यवस्था द्वारा आक्षिप्त। यह ठीक है कि वह अच्छा या बुरा भी हो सकता है और समष्टि के प्रति उसका एक अपना धर्म होता है, स्वकृत कर्म का औचित्य होता है, औचित्य साधना की व्यक्तिगत प्रतिभा भी होती है; पर व्यवस्था के अवयवी का वह एक अवयव ही होता है, व्यवस्था को व्यष्टि-रूप में उसकी ज़रूरत नहीं होती। तभी हमारे यहाँ कहानियों में आता है कि किसी देश का राजा जब निर्वंश मर गया तो मन्त्रियों और नगर के लोगों ने राजा के हाथी को खुला छोड़ दिया कि जिसे भी वह सूंड से उठा कर हौदे पर बिठा दे, वह राजा!

यों राज्य-व्यवस्था स्वरूप से ही एक परस्पर-भाव में पली धर्म-व्यवस्था होती है। अच्छी हो तो व्यष्टि-धर्मों को—व्यक्तित्व-साधना जैसे धर्मों को—अधिक अवकाश देती है, पर होती समष्टि-प्रधान है। और यही विडम्बना है—मनुष्य की प्रवृत्ति की नित्य सी विडम्बना है—या विभीषिका कहिए। समष्टि-विशेष का दूसरी समष्टियों से सम्बन्ध देखिए। यहाँ दस्युवृत्ति का सहज साम्राज्य जान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पड़ता है। तभी राजा का दूसरे राज्यों से धन-आहरण राजधर्म में उचित और सहज स्वीकृत था। (गोएटे के **फाउस्ट** में भी फाउस्ट-समर्थित राजा की सेना द्वारा विजित सेना को लूटने का एक दृश्य है; हरेक को लूटने से रोका जाता है, ताकि लूट राजा को ही मिल सके और समूचे राज्य के काम आ सके)। आज भी एक राज्य दूसरे से धन-आहरण की ताक में रहता ही है—प्रच्छन्न भाव से ही सही। राज्यों के बीच आज भी चाणक्य आदि प्रतिपादित साम, दान, दण्ड, भेद ये ही प्रवृत्ति के आधार हैं, अगर युद्ध तक की नौबत न आन पहुँचे। फिर मनुष्य में युद्धवृत्ति तो अटल है—उसके बिना राजधर्म सतयुग के सपने में ही सम्भव है, जहाँ राजा की आवश्यकता ही नहीं!

तो समष्टियों के बीच की जो सम्बन्ध-भूमि है वहाँ अधर्म रूपी शैतान का सनातन पैतृक घर बसा हुआ है, जहाँ से उसे हटाने की कल्पना भी दुष्कर है। 'विश्वैकनीड़' की भावना के स्वर से स्वर मिलाते हुए 'विश्वैकराज्यं' की आज कल्पना की जाती है। पर 'नीड़' यहाँ धोखा है। इस शब्द में जो परस्पर-भाव का मीठा संदेश सुनाती भावध्वनि है, वह मोहक हो, पर है मोह ही। राज्य को नीड़ कहना धोखा है—और विश्व के एकनीड़ होने का कोई यथार्थ अर्थ नहीं बनता। अगर अर्थ यह है कि आज दूरियाँ सिमट आई हैं, हमारे आवास एक-दूसरे के पास आ गए हैं, तो इससे, 'मिट गए अलगाव' से, यह निष्कर्ष कैसे उभरता है? तनाव भी उतने ही बढ़े हैं जितने हम 'पास' आ गए हैं। दूरियाँ थीं तो राष्ट्रों के बीच तनावों की इतनी भीड़ भी नहीं थी—दूरी तनाव को भी कुछ दूर रखती थी।

पर चलिए, हम 'विश्वैकनीड' का अर्थ 'विश्वैकराज्य' मान लेते हैं—जैसा कि लगता है कुछ लोग मानने लगे हैं। सारा विश्व एक ही राजतन्त्र में समा जाए तो इससे क्या बात बनेगी? **मार्कण्डेय पुराण** में कल्पना है कि कार्तवीर्य सहस्रार्जुन जब राजा हुए तो उन्होंने राजा के धर्म पर विचार किया। उन पर खुला कि राजा का सही काम प्रजा की अन्य राज्यों से रक्षा करना है—पालन का काम तो प्रजा आप अपना सँवार लेती है—अन्न उपजाना, उसे बाँटना, न्याय, दण्ड यह तो लोक-सुलभ हैं। इसके लिए अलग से राजतन्त्र की आवश्यकता नहीं। राजा का विशेष धर्म तो रक्षा ही है। सहस्रार्जुन ने फिर योगबल से ऐसी शक्ति साधी कि दूसरे सभी राज्यों को जीत लिया। विश्व भर को विश्वैकराज्य की प्रजा बना दिया। फिर आगे क्या हुआ, **मार्कण्डेय पुराण** नहीं बताता। पर हम सहज ही कल्पना कर सकते हैं। पहला ही प्रश्न जागेगा कि सहस्रार्जुन के बाद क्या हुआ? कब तक चला विश्वैकराज्य? सच तो यह है कि कोई भी विश्वैकराज्य विश्व को विश्वैकसमष्टि नहीं बना सकता। मान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लीजिए कि सहस्रार्जुन योगबल से चिरजीवी भी हो जाएँ, राज्य एक रह जाये, तो भी क्या भिन्न समूह नहीं पनपेंगे? इनमें तनाव भी होगा। छोटे समूह बड़ों को जन्म देंगे, समष्टियाँ बनेंगी। समष्टि का सार समूह (सम्-ऊह) ही होता है, पर हमारी चेतना में ऊह-भेद भी सहजात है—भिन्न आदर्श, भिन्न मार्ग, भिन्न गति, भिन्न गन्तव्य, ये मनुष्य के आत्मचेतन स्वभाव से अभिन्न हैं। हमारी व्यष्टि-निष्ठ आत्मचेतना ही हमें परस्पर भिन्न क्षितिजों का इंगित देती रहती है। समष्टि में तो ऐसा और भी बड़े, संगठित रूप में होता है। किसी भी समष्टि में आदर्श के ऊह-भेद के साथ व्यवस्था के विषय में ऊह-भेद का बीज है जो मनुष्य में स्वभाव-निहित जान पड़ता है। हाँ, मनुष्य में एक सहज विश्वजनीन तत्त्व भी है—हमारी आत्मचेतना भाव, कर्म, ज्ञान, विचार, अध्यात्म, ऐसी किसी भी निरहं, निःसंग पुरुषार्थ-साधना में अपने आप को विश्वैकनीड पाती है—सबकी आत्मचेतना में घर कर सकती है। पर साथ ही वह अपने आप को बहुनीड़ भी पाती है। प्रत्येक पुरुषार्थ-नीड़ों का बहुवचन सँवारती है—तभी हम संस्कृतियों में बँटते हैं और संस्कृतियाँ समूहों-सम्प्रदायों में। एक सीमा तक हम मान सकते हैं कि हमारा विश्वजनीन पक्ष अपत्ते उदार अभेद में भेद को पचा सकता है, समूह-भेद के होते भी एकराज्यता बनाए रख सकता है—बड़ी और विराट् सभ्यताओं में ऐसा हुआ ही है (भारत ही इसका बड़ा उदाहरण है)। पर बात एक सीमा तक ही संभव है और भिन्न गतियों के बीच तनाव कभी न कभी भिन्न सत्ता की चौखट तक पहुँचने को बाध्य लगता है।

एकराज्यता के पक्ष में हम सहस्रार्जुन के एकराज्य-बोध को और गहराई दे सकते हैं। कह सकते हैं कि राजधर्म का काम केवल प्रजा-पालन के लिए सत्ता का ऐक्य साधना नहीं है, राजधर्म सब उचित धर्मों को प्रश्रय और प्रोत्साहन देता है, भिन्न पुरुषार्थों को घर देता है, चाहे उनमें कितना ही परस्पर-विरोध क्यों न प्रतीत होता हो : मनुष्य के गहरे से गहरे 'बहु' को एकसूत्रता दे—यह राजधर्म का काम है। पर कोई भी बहुवचनी राजधर्म उस विरोध का क्या करेगा जो बहुत्व का ही विरोध करे? अपने बहुत्व में रहता हुआ वह किसी बहुत्व-विरोधी पंथ या अभियान का कैसे विरोध करेगा? और कट्टर एकधर्मियों को सचमुच आत्मसात् कर लेना संभव नहीं दिखाई देता। सेमेटिक मज़हबों को लीजिये, इनका समग्र-दर्शी आदर्श राजधर्म को भी अपने समग्र में समेटता है। बहु का निषेध करता है। उसके विरुद्ध दण्ड और हिंसा को उचित मानता है—इसके लिए ईश्वर की दुहाई देता है। ऐसे एकत्व-धर्मी समूह को बहुत्व-पोषी राजधर्म कैसे समोएगा? उसके प्रति ऐसी उदार प्रवृत्ति कैसे रखेगा जिसमें उसकी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आत्महानि भी न हो? वह चाहे कुछ भी रास्ता ले, ऐसे आदर्श को अपने नीड़ में तो नहीं रख पाएगा। भारत के ही इतिहास को देख लीजिए। कोई कट्टर एकधर्मी आदर्श कब सिर उठा ले कौन जानता है? इससे कोई उद्धार है तो राजधर्म में नहीं, बहुत्व की हमारी सहज-निसर्ग प्रवृत्ति में ही है। मनुष्य में बहुत्व की प्रवृत्ति गहरी है, दबा भी दी जाए तो भी उभर ही आती है। पर साथ ही बहुत्व के विरोध में भी हमारी मनीषा एक सनातन आकर्षण-बोध करती है। यहाँ जिसे मैं 'सेमेटिक' कह रहा हूँ वैसा आदर्श भेस बदल बदल कर हमें जकड़ता ही रहता है। आधुनिकता को ही लीजिए। वह भी अपने आप में समग्र, सर्वतोभद्र (वास्तव में, 'सर्वतोग्रासी'), परम 'एक' होने का दावा करती है—अपनें आप को इतिहास का अन्तिम सत्य तक कह देती है। है भी सेमेटिक परम्परा की उपज। यह आधुनिकता ही आज विश्वैकराज्य की बात करती है। पर उसके भीतर के ही बँटवारे देखिए—समष्टि-भेद और भिन्न 'आधुनिक' समष्टियों का परस्पर-संघर्ष यह क्या ऐसा ऊपर का है कि भेद अभेद में सिमट ही आएगा? और माना, एकराज्य जैसा कुछ बन भी जाएगा, तो भी टिकेगा कब तक? दिखता ही है कि विश्वैकराज्य की आधुनिक कल्पना अपनी संस्कृति विशेष को ही विश्व पर थोपना चाहती है—चाहे बहुत्व का नाम लेती रहे। पर सवाल वही है जो सहस्रार्जुन के प्रसंग में उठा था : ऐसा कुछ हो भी जाए तो चलेगा कितने दिन? बहुत्व का सहज उन्मेष क्या सदा के लिए सिमट जाएगा?

भविष्य में जो भी हो, अब तक के हमारे इतिहास से तो विश्वैकराज्य जैसा कुछ नहीं उभरता। यही उभरता है कि समष्टि के रूप में हमारी रूह शैतान के हाथ इस तरह से जकड़ गई है कि निकलने का रास्ता नहीं दिखता। समष्टि के रूप में हम स्वभाव से ही फाउस्टियन हैं; एक-दूसरे के प्रति सत्ता-लोलुप। हमारे यों फाउस्टियन होने की बात आधुनिक होने की नहीं, मनुष्य होंने की है। कलि कलह का पर्याय है, हम कलिकाल में हैं और कलिकाल की धारणा को हम फाउस्टियन रंगों में भी आँक सकते हैं (चाहे यों आँका न जाता रहा हो) : 'कलिकाल वह काल है जिसमें मनुष्य विभिन्न समष्टियों में बँटता है और इन समष्टियों में आपसी विरोध के बीज नित्य पनपते हैं।' न जाने सतयुग कभी था या नहीं, कलिकाल तो आदमी कें साथ ही जन्मा जान पड़ता है। लगता नहीं कि आदमी अपने बूते पर इसकी पकड़ से छूट सकता है। आधुनिक मनीषा का एक यह भी बोध (और दावा) रहा है कि मनुष्य का जगत् मनुष्य ने ही बनाया है और इसका उद्धार भी मनुष्य ही करेगा। आधुनिकता अपने आप को इसी दिशा में मसीहा मानती है। इसीलिए समूचे विश्व पर छा जाना चाहती है और बहुत कुछ छा ही गई है—आजं कई देशों में परस्पर-भाव के आदर्श और तन्त्र

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आधुनिक राज्य-चिन्तन की देन हैं। पर कलि कुछ पीछे हटता भी दिखता है क्या?

अब अंत करना चाहता हूँ। पर उसके पहले सोमराज जी पर आता हूँ। सोमराज जी किस फाउस्टियन मैन से अपनी बात कह रहे हैं? अब तक मैंने यही उभारने की कोशिश की है कि अगर फाउस्टियन होने का नाता सत्ता और सत्ता-कामना से है तो 'फाउस्टियन मैन' को समष्टि के अर्थ में लिए बिना बात नहीं बनती। यहीं सोमराज जी के लिए मैं समझता हूँ, एक मूलभूत प्रश्न उठता है : ऐसे फाउस्टियन मैन के लिए उनकी कथनी का क्या मोल हो सकता है जिसे सत्ता का उपयोग करना है और सार्थक उपयोग करना है?

उनका उपदेश निवृत्ति मार्ग का संदेश देता है। यह मार्ग व्यष्टि के लिए तो हो सकता है, समष्टि के लिए नहीं। पर 'फांउस्टियन मैन' की बात समष्टि को भुला कर नहीं की जा सकती। समष्टि के लिए तो कोई भी सार्थक उपदेश प्रवृत्ति के ही औचित्य का संदेश हो सकता है। निवृत्ति भी समष्टि-प्रवृत्तिधर्म को ऊह्य रख कर चलती है। रमेश जी ने भी गृहस्थधर्म की बात उठाते हुए कहा है कि प्रवृत्ति के बिना निवृत्ति नहीं रह सकती। निवृत्ति एक विशेष पुरुषार्थ है जो दूसरे पुरुषार्थों की तरह राजधर्म का प्रश्रय चाहता है। उसे प्रश्रय मिलना भी चाहिए। पर यह और बात है। गहरे उतरिए तो यह भी सच है कि मनुष्य की चेतना के लिए—आत्मचेतना के लिए—निवृत्ति के बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती : शल्य जी का तो सशक्त तर्क ही है कि जिसे हम जगत् कहते हैं, मनुष्य के बोध का, उसकी रहनी का जगत्, जो उसकी प्रवृत्ति-भूमि भी है—वही निवृत्ति के बिना नहीं बनता। हमारी आत्मचेतना में द्रष्टा को दृश्य से अलग करती, दृश्य से दूर हटती निवृत्ति की निःसंग दृष्टि न हो तो हमारे लिए जगत् एक इन्द्रिय-निमग्न निर्विषय सा पाशव अंधकार ही होगा। सच पूछिये तो वह होगा ही नहीं।

पर निवृत्तिमार्ग की बात और है और वहाँ भी प्रवृत्ति की समस्या है : निवृत्ति में हम कैसे प्रवृत्त हों कि निवृत्ति ठीक सधे? सोमराज जी शायद यही बताने को प्रवृत्त हुए हैं। पर समष्टि और समष्टियों की प्रवृत्ति क्या हो? इस समस्या का निवृत्ति में क्या उत्तर हो सकता है? व्यष्टि निवृत्त हो जाएँ, समष्टि की समस्या फिर भी रहती ही है, विशेष कर सत्ता के क्षेत्र में। फाउस्टियन मैन जो सत्ता-साधकं है, उसे कैसी निवृत्ति का उपदेश दिया जाए जिससे उसकी सत्ता-साधना में सार्थकता आए? सोचता हूँ, क्या सोमराज जी ने इस पर कुछ सोचा है? सोमराज जी ने जो निवृत्ति-मार्गी अध्यात्म का पंथ सुझाया है, गंभीर, उदात्त, निराडम्बर, भूमामय जान पड़ता है। पर क्या अध्यात्म में उस समष्टिगत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

फाउस्टियन समस्या का सुलझाव है जिसे मैंने ऊपर तूल दिया है? जिस फाउस्टियन समष्टि-पुरुष की मैंने बात की है उसे निवृत्ति का ही मोल सिखाना हो तो प्रश्न होगा : पंथ कैसा हो जो उसको समस्या में रास्ता दिखा सके? निवृत्ति-मार्गी विचारक के लिए सोचने की बात यही है। अब यों तो हम शंकर की तरह जगत् को ही माया या किसी और अर्थ में मिथ्या या अतात्त्विक ठहरा सकते हैं। प्रवृत्ति की—और सत्ता की—समस्याओं को तुच्छ, फल्गु, कह सकते हैं। या कह सकते हैं कि यह भवसागर है, स्वरूप से ही विषम है—इससे किनारा कर लेना ही अच्छा है। कह सकते हैं कि माना, मनुष्य मात्र किनारा नहीं कर सकता, तुम तो कर सकते हो—व्यष्टि की निवृत्ति ही सही पंथ है। पर कहना न होगा, इसमें समष्टि के लिए किसी समाधान की कल्पना ही नहीं। युधिष्ठिर ने युद्ध के बाद निवृत्तिमार्ग अपनाना चाहा तो उन्हें राजधर्म की महिमा बताई गई थी और राजधर्म का उपदेश दिया गया था।

मान लीजिए सोमराज जी भी फाउस्टियन मैन को समुचित राजधर्म का उपदेश देते। पर राजधर्म पर क्या भरोसा किया जा सकता है? मेरे मन में प्रश्न जागता है कि क्या राजधर्म अपने आप में साधने योग्य पुरुषार्थ बनता भी है? राजधर्म का काम है दूसरे पुरुषार्थों को धरती देना। पर इस काम का क्या कोई अपना स्वतन्त्र क्षेत्र, अपनी स्वतन्त्र साधना—अलग-अलग सार्थक साध्य—हो भी सकता है? प्रजा-पालन का काम दूसरे धर्मों के योगक्षेम की निगरानी का और उन्हें सहारा देने का काम है, उसकी अपनी अलग साधना क्या? पर, हाँ, एक अलग साधना की भी कल्पना की जा सकती है : मनुष्य के व्यवहार-लोक को चेतना की ऊर्ध्वतर—या सार्थकतर कहिए—ऐसी किसी भूमि पर ले जाना। राजधर्म का ही नहीं हमारी समष्टिगत प्रवृत्ति मात्र का यही साध्य लगता है—राजधर्म तो इसका प्रतीक है, प्रतिनिधि है।

जिस सर्वसाधारण व्यवहार-लोक में मनुष्य रहता है, उसकी धरती एक ही माटी में बँधी रहती है, वह न कहीं ऊपर जाता है न नीचे। आज का व्यवहार-लोक वही है जो पहले था। देश-भेद, राज्य-भेद, संस्कृति-सभ्यता-भेद, इनके वैविध्य में भी मनुष्य की चेतना और इस चेतना से प्रेरित मनुष्य के परस्पर-सम्बन्ध, ये एक ही भूमि पर टिके रहते हैं—इस भूमि पर समष्टियों के बीच सत्ता का संघर्ष निरन्तर है। मनुष्य कई साधनायें करता है, दर्शन, कला, अध्यात्म में चेतना के शिखर छू लेता है, पर लगता है कि मनुष्य का व्यवहार-लोक ऐसी चेतना में पलता है जो उसकी हर साधना से अछूती रहती है। हमारे सार्थकतर, ऊर्ध्वतर पुरुषार्थ-लोक व्यवहार-लोक की धरती पर ही पलते हैं पर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इसे बदल नहीं पाते। क्या कोई ऐसा राजधर्म हो सकता है जो इसे बदल दे? व्यवहार को ही ऊर्ध्वतर भूमि पर ले जाए? मुझे लगता है राजधर्म का कोई पुरुषार्थ हो तो यही हो सकता है। पर बनता नहीं दिखता। यह नारा चला था कि व्यवस्था बदल दें तो मनुष्य, जो कि व्यवस्था-जीवी है, वह भी बदल जायगा—यह नारा आज खोखला है। हाँ, हम अपनी (व्यष्टि की) चेतना बदल सकते हैं—और पुरुषार्थ की यही धरती बन पड़ती है। सोमराज जी ने तभी व्यष्टि को सम्बोधित किया है। पर व्यवहार-लोक का क्या इलाज? समष्टि की चेतना कैसे बदलेगी? दिखता तो यही है कि (समष्टिगत) फाउस्टियन मैन अश्वत्थामा की तरह परिवर्तन के परे है, चिरजीवी है।

पादटिप्पणी—

1. गोएटे के फ़ाउस्ट का एक पुराना संस्करण है—1890 का छपा वेलर्ड टेलर का काव्यानुवाद, जिसमें फाउस्ट के दोनों भाग हैं। अनुवाद की शैली कुछ पुरानी है, पर कविताई वुरी नहीं है : प्रकाशक, वार्ड, लॉक ऐण्ड कम्पनी (लन्दन, न्यूयॉर्क, मेलवर्न), दि मिनर्वा लाइव्रेरी ऑफ फेमस वुक्स, 1890। फाउस्ट के जो उद्धरण मैंने दिये हैं, इसी से हैं। टेलर की टिप्पणियाँ भी वड़े काम की हैं।

ए 37-38 विश्वामित्र मार्ग,
श्याम नगर, जयपुर-302006

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उन्मीलन-गोष्ठी

विषय - प्रस्ताव : दयाकृष्ण
विषय : आत्मकेन्द्रित चिन्तन की मूल भ्रांतियाँ

यह गोष्ठी 12 जून, 2001 को प्रो. दयाकृष्ण के घर पर हुई। इस गोष्ठी में निम्नलिखित ने भाग लिया -

प्रो. दयाकृष्ण, श्री यशदेव शल्य, डॉ. नन्दकिशोर शर्मा, डॉ. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, डॉ. के. एल. शर्मा, डॉ. योगेश गुप्ता, डॉ. सरला कल्ला, डॉ. मुकुन्द लाठ, आयुष्मान गोस्वामी, कु. मेघना शर्मा तथा कु. वर्षा कल्ला।

प्रो. दयाकृष्ण का लेख पहले वितरित कर दिया गया था। उस पर श्री शल्य ने अपनी प्रतिक्रिया प्रस्तुत की और तब विचारविमर्श हुआ। यहाँ श्री शल्य की प्रतिक्रिया के अतिरिक्त डॉ. भटनागर की प्रतिक्रिया भी दी जा रही है।

सरला कल्ला

यशदेव शल्य

दयाजी के इस लेख की, उनके और बहुत से लेखों के समान, यह विशेषता है कि इसमें कोई एक विचार-बिन्दु नहीं है जिस पर विचार करते हुए उसकी गहराई तक पहुँचने का प्रयत्न हो। बल्कि अनेक विचार-बिन्दु, एक के बाद एक, बिना किसी विचार-शृंखला के, निकले चले जाते हैं, लगभग कहानी सुनाने की उस पुरानी परम्परा के अनुरूप जिसमें एक कहानी की समाप्ति किसी प्रश्न के साथ होती है और उसके उत्तर के रूप में दूसरी कहानी आरंभ की जाती है। कुछ स्थलों पर तो ऐसा भी क्रम नहीं बनता। यहां केवल इस लेख लिखने की, दूसरे अधिकांश लेखों के समान, प्रेरणा के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कहा जा सकता है। वह प्रेरण है भारतीय दर्शन में पूर्वगृहीतवत्, कम से कम प्रातीतिक रूप से, धारणाओं पर प्रश्न उठाना और उन पर विचार करने के लिए चुनौती देना। किन्तु उनका यह प्रयत्न, कम से कम इस लेख में, अस्थाने ही कहा जा सकता है।

सर्वप्रथम इस लेख के शीर्षक को लें। शीर्षक है "आत्मकेन्द्रित चिन्तन की मूल भ्रांतियाँ।" किन्तु इस लेख में यह कोई मूल प्रश्न नहीं है, बीच में कुछ पंक्तियों में इसका उल्लेख है। किन्तु इसमें भ्रांति की बात क्या है, यह उससे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कुछ पता नहीं चलता। इस लेख का आरंभ इस प्रतिपत्ति के साथ होता है कि "मनुष्य विचार करते हुए अपने को एक विचार-परंपरा और विचार-परिवेश में पाता है।" किन्तु यह प्रतिपत्ति स्पष्टतः केवल आत्म-केन्द्रित चिन्तन के सम्बन्ध में नहीं है, चिन्तन मात्र के सम्बन्ध में है। आगे इस प्रतिपत्ति पर कोई विचार भी नहीं है कि इससे क्या लाभ या हानियाँ हैं। उसके बाद इस सामान्य प्रतिपत्ति से विशेष प्रतिपत्ति पर पहुँचा गया है कि इस सामान्य नियम के अनुसार हम भारतीय भी अपने को एक विचार-परंपरा और विचार-परिवेश में पाते हैं जिसमें दो बातें उत्तराधिकार में मिलती हैं—"एक, मनुष्य सुख चाहता है और दुःख से दूर भागता है और दूसरा यह कि उसे स्थायी सुख कभी नहीं मिलता।" यों तो यहाँ पहले दया जी से यह प्रश्न किया जा सकता है कि उनका यह विशेष प्रश्न किस सामान्य नियम—किस परंपरा और परिवेश से—शासित है? क्योंकि सामान्य होने से यह नियम उनके चिन्तन और प्रश्न पर भी लागू होगा। किन्तु दया जी अपने को इस सामान्य नियम का अपवाद मानते हैं। किन्तु तब, ये अपवाद तो हमारी, और दूसरी भी सब परंपराओं में असंख्य मिलते हैं। यह सही है कि सब संस्कृतियों का एक मूल चरित्र होता है जो उस संस्कृति के अन्तर्गत पलने-बढ़ने वाले व्यक्तियों के विचार की एक सीमा जैसी बनाता है, किन्तु यह सीमा ऊहापोहात्मक ही होती है, गतानुगतिकतापरक नहीं। यह बात भारतीय दार्शनिक परंपरा में भी देखी जा सकती है। उदाहरणतः यहाँ दर्शन के अनेक संप्रदाय हैं और उन संप्रदायों के भीतर अनेक उपसंप्रदाय हैं। बौद्ध धर्म के अन्तर्गत ही जैसे अनेक संप्रदाय हैं, **ब्रह्मसूत्र भाष्य** के अनेक संप्रदाय हैं, इसी प्रकार अन्य अनेक संप्रदाय हैं। यदि इन संप्रदायों में भी गतानुगतिकता होती तो उनमें उपसंप्रदाय नहीं बनते, फिर भिन्न संप्रदायों की तो बात ही क्या है। इन सब दर्शन-संप्रदायों ने सुख-दुःख की बात भी नहीं की है। उदाहरणतः नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा आदि-आदि किसी में विचार का यह केन्द्र नहीं है। किन्तु मान लें कि सब दर्शन-संप्रदायों में विचार का यही एक केन्द्र है, तो इसका आत्मकेन्द्रितता से क्या सम्बन्ध है? दया जी ने यह नहीं बताया।

इसके बाद भारतीय दार्शनिकों के इस विचार के 'बचकानेपन' को लें कि 'सब मनुष्य सुख चाहते हैं और दुःख से दूर भागते हैं।' इसमें बचकानापन क्या है? इसके लिए दयाजी की युक्ति है कि यह प्रतिपत्ति, अथवा कहें मान्यता, तथ्य के विपरीत है। उनके अनुसार 'मनुष्य किसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए सुख को छोड़ कर दुःख उठाना भी स्वीकार करता है।' किन्तु अपनी इस प्रतिपत्ति के लिए वे एक भी सीढ़ी नीचे उतर कर यह पूछने को तैयार नहीं हुए कि मनुष्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ऐसा क्यों करता है? कहीं ऐसा तो नहीं कि वह तात्कालिक सुख को छोटा मानकर लक्षित स्थिति में बड़ा सुख देख रहा हो? जैसे, कोई सितार सीखने या पुस्तकें खरीदने के लिए कठिनाई सहकर भी पैसा बचाए। दयाजी यहाँ सितार सीखने और पुस्तक पढ़ने को सुख नहीं देख कर पैसा बचाने से होने वाले दुःख को ही देख रहे हैं, क्योंकि वे केवल आईस्क्रीम खाने के सुख को ही सुख मान रहे हैं, शेष सबको सुख नहीं मान रहे हैं। यहाँ आश्चर्य की बात यह है कि वे यह प्रश्न भी उठाते हैं कि 'आख़िर सुख है क्या?' किन्तु वे इस पर कोई विचार नहीं कर ठंडी हवा और आईस्क्रीम खाने के सुख को सुख बताकर ही यह मान लेते हैं कि इस प्रश्न का समाधान हो गया, जबकि उपयोगितावादी (यूटीलीटेरियन) जॉन स्टुअर्ट मिल और अर्थ-कियासिद्धिवादी (प्रेग्मेटिस्ट) ड्यूई और विलियम जेम्स तक ने शूकरीय सुख और मानवीय सुख में भेद किया है और कला तथा शास्त्रानुशीलन से प्राप्त होने वाले सुख को ही मानवीय सुख माना है, और यह तब जबकि उनकी दर्शन-व्यवस्था में इस भेद के लिए कोई आधार नहीं है। दयाजी को शाक्य मुनि की संबोधि में सिद्ध इस साक्षात्कार को कि 'सब दुःख है' बचकानापन कहने में कोई संकोच नहीं हुआ, यह उनके आत्मविश्वास की पराकाष्ठा का द्योतक है, जिसके लिए उन्हें दाद दी जा सकती है। किन्तु यहाँ दयाजी की ओर से प्रतिवाद किया जा सकता है कि शाक्यमुनि ने संबोधि के लिए जो घोर तपस्या की और इस प्रकार कष्ट पाया उसे सुख के लिए कष्ट पाना नहीं कह सकते। उससे भी अधिक, भारत की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष में अनेक लोगों ने आत्मबलिदान किये, उन्हें कोई सुखान्वेषी नहीं कहा जा सकता। ऐसे उदाहरणों को सुख-दुःख की पदावली में ही घटाना उतना आलोक-प्रद नहीं लगता, यह बात स्वीकार की जा सकती है, किन्तु यदि कोई इस पदावली का प्रयोग करता है तो इसमें कोई दोष भी नहीं है, बल्कि यह एक गहरे सत्य को उद्घाटित करने में सहायक होता है। बुद्ध ने सब कुछ को दुःख कहा, उनकी यह दृष्टि एक अतलावगाही जिज्ञासा और उससे उपजे आलोक की ही परिणाम है, जिससे हम सुख-दुःख को आईस्क्रीम मिलने-नहीं मिलने तक सीमित कर वंचित रह जाते हैं। ''मनुष्य स्वभावतः सुखान्वेषी है, अन्य सब जीवों के समान'' यह प्रतिपत्ति निश्चय ही भ्रामक हो सकती है जब इसे आत्यन्तिक सुख की खोज के साथ जोड़ा जाता है। किन्तु यह सही है कि मनुष्य अन्य जीवों के समान ही सुख की एषणा ही करता है और प्रथमतः यह एषणा ऐन्द्रिक सुखों की होती है, परिष्कार के साथ वह काव्य और शास्त्रादि के अनुशीलन, आदर्शों के लिए कष्ट झेलने आदि-आदि का रूप भी ले सकती है। किन्तु जिन भी एषणाओं में हम प्रवृत्त होते हैं उनकी तुच्छता और व्यर्थता का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बोध एक गहरे दुःख का हेतु होता है और तब सम्यक् और महत् अर्थ की गवेषणा का प्रवर्तन होता है जिसे आप चाहें तो सुख कहें चाहे नहीं कहें, किन्तु उसे दुःख से मुक्ति की गवेषणा कहने में कोई बचकानापन नहीं है। सम्राट् अशोक को कलिंग विजय के बाद हुआ व्यर्थता-बोध या युधिष्ठिर को महाभारत-युद्ध में विजय के बाद हुई निराशा ने ऐसे ही अर्थ की जिज्ञासा को प्रेरित किया था। गार्गी का यह बोध कि 'येनाहं नामृता स्याम कियहं तेन कुर्याम्?' भी ठीक ऐसा ही प्रश्न है यद्यपि वह किसी घटना विशेष से प्रेरित नहीं है। ऐसे आत्यन्तिक व्यर्थता-बोध से उपजे प्रश्न आत्यन्तिक सार्थकता के अन्वेषण को ही प्रेरित करेंगे। सब संस्कृतियाँ इसी अर्थ की खोज के विभिन्न प्रयत्न कही जा सकती हैं, यह बात दूसरी है कि उन सबके उत्तर एक से नहीं होते और न एक समान गहरे और सन्तोषप्रद होते हैं। अब इस अर्थ की गवेषणा दर्शन का ही एकाधिकार है, यद्यपि व्यर्थता-बोध और सार्थकता की गवेषणा का जीवन्त विवरण काव्य भी प्रस्तुत कर सकता है। भारतीय दर्शन के कुछ संप्रदायों ने इस बोध और गवेषणा को अपना केन्द्रीय विषय बनाया और भारतीय संस्कृति में सामान्यतः इस बोध को अधिक महत्त्व मिला। यह एक दूसरी बात है और यह किसी भी प्रकार से उसकी हीनता की द्योतक नहीं है। यहाँ यह बात स्वीकार की जा सकती है कि बहुत से दार्शनिकों में यह कथन तोता-रटंत जैसा और खिझाने वाला भी लगता है, क्योंकि संसार या जीवन की दुःखिता का उनके अनुभव या बोध में कोई स्थान नहीं होता और उनके तर्क श्रुति-प्रमाण पर आधारित होते हैं जो श्रुति स्वयं साक्षात्कारात्मक होने पर भी दार्शनिकों की किसी भी आँख के कभी परोक्षतः भी संपर्क में नहीं आयी होती। किन्तु यह रटंतता भी कोई भारतीय दर्शन-परंपरा की विशेषता ही नहीं है।

इसके आगे प्रसंगान्तर लाते हुए दया जी रंगों, पेंटरों आदि की बात करते हैं और तब कहते हैं—"कहानी लंबी और पेचीदा है, पर हर इन्द्रिय के साथ वह जुड़ी है और उसने अपनी एक अलग दुनिया बनायी है। लेकिन इस दुनिया के पीछे जो एक सतत साधना है ... उसकी ओर दार्शनिकों का ध्यान शायद ही कभी भूल कर जाता है। ऐसा क्यों? इसके कई उत्तर हो सकते हैं पर कम से कम यह उत्तर तो आसानी से दिया जा सकता है कि पता नहीं क्यों दर्शन के इतिहास में शुरू से ही यह प्रवृत्ति रही है कि जो कुछ इन्द्रियों से ग्रहण होता है, जो कुछ शरीर से मिलता है, उसमें कोई विशेष सार्थकता नहीं है।" इसके आगे वे कहते हैं "संसार की जो अनेक विषय वस्तुएँ हैं, उनके विशिष्ट ज्ञान में दर्शन को कोई रुचि नहीं है और न ही अपने विषय में जो 'विषय रूप' ज्ञान है उसके बारे में उसे कोई दिलचस्पी है।" यहाँ उद्धरण के प्रथम भाग में 'इन्द्रियों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

से ग्रहण' का क्या अर्थ है? यदि इससे इसको ज्ञान-पक्ष अभिप्रेत है तब तो दार्शनिकों ने इस पर बहुत अधिक विचार किया है, सारी ज्ञानमीमांसा इसीको केन्द्र बनाकर हुई है। किन्तु शायद दया जी का अभिप्राय यहाँ इन्द्रियों के भोग पक्ष से है, जैसा कि इसके साथ ही जुड़े "शरीर से जो मिलता है" से स्पष्ट है। अब, दयाजी से हम जानना चाहेंगे कि इन्द्रियों और देह के भोग-पक्ष के जो अर्थ हैं—रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि, इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों—शिश्न, उपस्थ आदि उनका विकास पाककला, गंधी-कला, काम-कला आदि के रूप में ही हो सकता है और हुआ भी है, दर्शन के ये विषय कैसे हो सकते हैं? उसके विषय तो ये आत्म-चिन्तन के अन्तर्गत ही हो सकते हैं—कि 'इनसे प्राप्य सन्तोष का क्या स्वरूप हैं', 'ये कहाँ तक सार्थक हैं' आदि। कुछ दार्शनिक ऐसे भी हुए हैं जो इनको परम अर्थ मानते हैं, पश्चिम में हाब्स और हमारे यहाँ चार्वाक इसके सर्वोच्च उदाहरण हैं। किन्तु यदि दूसरे, यहाँ तक कि यूटीलीटेरियन (उपयोगितावादी) मिल और प्रेग्मेटिस्ट (अर्थ-क्रिया-सिद्धिवादी) विलियम जेम्स और ड्यूई जैसे दार्शनिक भी इन्द्रियभोगपरक अर्थों में कोई सार्थकता नहीं देख सके तो इन अर्थों की अन्वेष्यता संदिग्ध तो होगी ही। या फिर आप बतायें कि यह संदेहास्पद कैसे नहीं है। इन्हें अनन्वेष्य कहने वालों ने तो बहुत तर्क दिये हैं। उद्धरण के दूसरे भाग में गहरा व्यामिश्र है। संसार की विशिष्ट वस्तुओं—इस घट, उस पट, इस पेड़, उस पौधे पर दार्शनिक ही नहीं कोई भी विचार नहीं करता, क्योंकि विचार सामान्यों पर होता है, विशेषों पर नहीं। विशेषों का उपयोग होता है, यद्यपि उपयोग भी उन्हें सामान्य के एक उदाहरण या घटना के रूप में लेते हुए ही होता है। फिर दर्शन का तो विषय ही स्वरूप-विचार या तत्त्व विचार है, तब वह इन्द्रियग्राह्य विशेषों पर कैसे विचार करेगा? और ऐसा नहीं करने में दोष क्या है?

इसी क्रम में, यद्यपि बिना किसी विचार-क्रम के, दयाजी कहते हैं—"कर्म के द्वारा जिस संसार की रचना होती है उस संसार की ओर यह 'दृष्टि' कुछ देख ही नहीं पाती, उसको समझने की बात तो और है। दूसरी ओर, उसको यह समझ में नहीं आता कि कोई अन्य भी किसी 'विषयी' को विषय-रूप में देख सकता है। आत्म या चेतना-केन्द्रित विचार यह कभी सोच ही नहीं पाता कि दूसरे भी 'आत्म' हैं, वे भी चेतन हैं और उनमें से कुछ 'आत्मचेतन' हैं। वह तो यह स्वतःसिद्ध मानकर चलता है कि जो विषयी है उसको कभी भी विषय रूप में नहीं देखा जा सकता। पर उसे अन्य लोगों को 'विषय-रूप' में देखने में कोई कठिनाई नहीं होती।"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यहाँ तीन बातें कही गई हैं जिनमें से पिछली दो कुछ सम्बद्ध हैं और पहली इन दो से सम्बद्ध नहीं है। प्रथम आपत्ति है कि "दार्शनिक कर्म-रचित संसार पर विचार नहीं करते।" अब, यह सही है कि दार्शनिक कुम्हार, बढ़ई, रेडियो या वायुयान मेकेनिक के कर्मों और उन कर्मों से अस्तित्व में आयी वस्तुओं पर विचार नहीं करते। किन्तु ऐसा वे करेंगे भी कैसे? यह क्षेत्र दर्शन के क्षेत्र में उसी प्रकार नहीं आता जैसे गायक, पेंटर, समाजशास्त्री और वैद्य के क्षेत्र में नहीं आता। यह सही है कि दार्शनिक इन्हें भौतिक वस्तुओं—इन्द्रिय-प्रदत्त अर्थों—के रूप में ही देखते हैं जबकि ये मनुष्य-रचित वस्तुएँ हैं और इन्हें उस प्रकार देखने पर जगत् को देखने का एक दूसरा आयाम खुलता है, जिस पर हमने अपने एक लेख[1] में विस्तार से प्रकाश डाला है, किन्तु दयाजी की बात का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है और जिससे उनकी बात का कोई सम्बन्ध है उसका दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं बनता।

अब शेष दो बातें। प्रथम, अन्य के अन्य को, मेरे को, जो कि विषयी हूँ, विषय रूप में देखने की बात। यह सही है कि इस पक्ष पर दार्शनिकों ने प्रायः कोई विचार नहीं किया कि एक आनुभविक विषयी अन्य विषयी को किस रूप में देखता है। किन्तु यह कोई दोष नहीं है, कम से कम भारतीय दर्शन में यह दोष रूप में नहीं है, क्योंकि इस दर्शन में यह अनाकलनीय नहीं है। इसके विपरीत यह आधुनिक पाश्चात्य प्रत्यक्षवादी-अनुभववादी दर्शन में अनाकलनीय है और इस प्रकार यह उसका दृष्टि-दोष कहा जा सकता है। भारतीय दार्शनिकों ने इस पर ध्यान इसलिए नहीं दिया क्योंकि उनका ध्यान चेतना के विवेचन के दूसरे पक्षों पर केन्द्रित रहा और उन पर उसमें बड़ा सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन मिलता है। अब, इस प्रश्न पर पश्चिम के अस्तित्ववादियों ने विचार किया है, किन्तु उनके विचार में चेतना के वे पक्ष उपेक्षित हैं जिन पर भारतीय दर्शन में विचार हुआ है। किन्तु यहाँ विचारणीय प्रश्न को दयाजी ने पर्याप्त असम्यक् रूप में रखा है। सर्वप्रथम ग़लती तो यह है कि हम अपने को केवल विषयी और दूसरों को मात्र विषय मानकर नहीं चलते। दूसरे, यह एक दूसरी बात है कि 'विषयी विषय नहीं हो सकता और विषय विषयी नहीं हो सकता' और यह एकदम दूसरी कि 'हम अपने को विषयी और दूसरों को विषय रूप में ही देखते हैं।' चेतना के आत्मचेतन होने का अर्थ ही यह है कि वह अपने को ही विषय-रूप में भी देखती है। ऐसा होने से यह भी होता है कि मनुष्य अपने को विषय रूप में और दूसरों को विषयी रूप में भी देख पाता है। वास्तव में अन्य को विषयी रूप में और अपने को अन्य के विषय-रूप में 'देखने' का अनुभव जीव मात्र में भी निहित प्रतीत होता है, जो एक जीव द्वारा दूसरे को आक्रामक मुद्रा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

में देखने में स्फुटतम होता है। आक्रामक मुद्रा में दूसरा विषयी रूप में ही देखा जाता है और देखने वाला अपने को उसके विषय रूप में ही देखता है। किन्तु अन्यथा भी एक जीव जब दूसरे को देखता है तब साधारणत: भी दूसरे को विषय और विषयी दोनों रूपों में देखता है और इस प्रकार अपने को भी दूसरे के विषय रूप में 'देखता' है। अनात्मचेतन चेतना में आत्म-पर की विषयता-विषयिता का यह तुल्य-बल आवेगात्मक बोध आत्मचेतन चेतना में प्रत्यय का स्तर भी प्राप्त कर लेता है। इससे 'आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत' के नैतिक नियम का औचित्य देख पाना भी संभव होता है जिसे अवर स्तर की चेतना में देख पाना संभव नहीं होता। तर्क और युक्ति तो तब तक संभव ही नहीं होती जब तक हम आत्म और पर का भेद नहीं हटाते।

इसके आगे दयाजी जो कहते हैं वह आरोप सर्वथा अयुक्त है। वे कहते हैं—''आत्म या चेतना-केन्द्रित विचार यह कभी सोच ही नहीं पाता कि दूसरे भी 'आत्म' हैं, वे भी चेतन हैं और उनमें से कुछ 'आत्मचेतन' हैं।'' यहाँ 'आत्म-केन्द्रित' से उनका क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट नहीं है। यहाँ उनका आशय 'आत्मा-केन्द्रित' से है या कि 'अहं-केन्द्रित' (सोलिप्सिस्टिक) से? यदि 'आत्मा-केन्द्रित' से है तो इसका उत्तर होगा कि भारत में चौरासी लाख योनियां और उन योनियों के सब व्यष्टियों में कुछ ने व्यक्ति-आत्माएँ देखी हैं और कुछ ने विभिन्न उपाधियों में एक ही आत्मा देखी है। इसलिए आत्मा-केन्द्रित विचार पर यह आरोप युक्त नहीं है। यदि दया जी का अभिप्राय 'अहं-केन्द्रित' से है तो, यहाँ के दर्शन में चेतना की अवधारणा ही ऐसी रही है कि उसमें यह समस्या ही नहीं उठती जैसी पश्चिमी दर्शन के अनुभववादी संप्रदाय में उठी है। यहाँ के आत्मा-केन्द्रित सभी दर्शन चित्त-चैत्त सब कुछ को, अहं-पर का भेद किये बिना, विषय ही मानते हैं और इसी संदर्भ में यह बात की गई है कि विषयी कभी विषय नहीं हो सकता और विषय विषयी नहीं हो सकता। चित्त-चैत्त तो सब-आत्म-पर के भेद के बिना, विषय ही है।

दयाजी आगे कहते हैं कि भारतीय दर्शन ने 'साधना' को केवल एक ही प्रकार की साधना माना है और वह है मोक्ष-साधना, जिसमें संसार का निषेध ही लक्षित है। इस पर हमारा निवेदन है कि यह सही है कि भारतीय दर्शनों में से अधिकांश ने मनुष्य का परम साध्य मोक्ष को ही माना और इस प्रकार अन्य मानवीय साधनाओं की ओर ध्यान नहीं दिया। जैसे प्लेटो ने रिपब्लिक लिखी, उसने मानव-जीवन के अन्य सन्दर्भों पर भी विचार किया, अरस्तू ने साहित्य, राजनीति और विज्ञान आदि पर भी लिखा, इसी प्रकार काँट, हेगल और अन्य बहुत से दार्शनिकों ने मनुष्य के अन्वेषण के विभिन्न पक्षों पर लिखा। किन्तु

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्लेटो, अरस्तू, काँट या हेगल ने मनुष्य के इन अन्वेषणों को मानव-जीवन के परम साध्य के रूप में देखा, ऐसा भी नहीं कह सकते। तब क्या यह कहना ठीक नहीं होगा कि ग्रीस या यूरोप के दार्शनिकों ने, ईसाई दार्शनिकों को छोड़कर, जीवन के परम साध्य के प्रश्न पर विचार ही नहीं किया? तो यह भी कोई स्तुत्य बात नहीं है। किन्तु वास्तव में ऐसा भी नहीं कह सकते। आधुनिक उपयोगितावाद, अर्थ-क्रिया-फलवाद और भौतिकवाद या प्रत्यक्षवाद भी जीवन के परम साध्य विषयक निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं। अब, यदि दयाजी को ये निष्कर्ष, या हमारे चार्वाक अजितकेशकंबली आदि के निष्कर्ष अधिक प्रिय लगते हैं तो अलग बात है। दूसरे, भारतीय दार्शनिकों ने यदि मानवीय जीवन के अन्य पक्षों या अन्वेषणों पर विचार नहीं किया तो इसका यह अर्थ नहीं है कि इन पर अन्य अनुशासनों के चिंतकों ने भी विचार नहीं किया। भारत में भी प्रायः उन सभी प्रश्नों और अनुसरणों पर विचार हुआ है जिन पर अन्य संस्कृतियों में दार्शनिकों या अन्य लोगों ने विचार किया है। दर्शन में यह विचार नहीं हुआ है, यह अवश्य भारतीय दर्शन में दोष कहा जा सकता है।

किन्तु सब भारतीय दर्शनों के विचार का केन्द्र मोक्ष ही है, यह कहना भी ठीक नहीं होगा। इनमें प्रकृति, चित्त, भाषा, प्रमाण-मीमांसा, कारण-कार्य-सम्बन्ध, ज्ञान, कर्म आदि अनेक विषयों पर विचार हुआ है। जैन दर्शन अनेकान्तवाद और स्याद्वाद को ही अपना मुख्य प्रतिपाद्य मानता है और इस प्रकार उसका मुख्य विषय जगद्विषयक ज्ञान का स्वरूप ही हो जाता है, मोक्ष नहीं। प्रत्यभिज्ञा संप्रदाय के विचार का केन्द्र भी मोक्ष नहीं होकर चेतना की रचना-वृत्ति ही है जिसे वे शिव की शक्ति या परामर्श-पक्ष कहते हैं। न्याय वैशेषिक और पूर्वमीमांसा के विचार का तो केन्द्र ही नहीं, एक प्रतिपाद्य भी मोक्ष को नहीं कहा जा सकता।

दयाजी आगे कहते हैं कि "यह आदर्श केवल उन लोगों का ही हो सकता है जो शरीर से, मन से, बुद्धि से और अपनी इन्द्रियों से बूढ़े हो चुके हैं, जीवन से थक चुके हैं और ऐसे आदर्श उसी संस्कृति में जन्म ले सकते हैं जो संस्कृति अपने से ही विमुख हो चुकी है।"

यहाँ सबसे पहले यह विचारणीय है कि किसी प्रतिपत्ति या प्रतिज्ञा पर आक्षेप का यह रूप कि प्रतिपादक की उस प्रतिपत्ति के पारिस्थितिक कारण क्या हैं, दार्शनिक रूप से स्वीकार्य नहीं होता। दार्शनिक युक्ति तो उस प्रतिपत्ति में तर्क-दोष, मूल्य-बोध या अनुभवमूलक साक्ष्य से विसंगति-दोष के आधार पर ही प्रतिवाद कर सकती है। इस प्रकार दयाजी से तो केवल यह दिखाने की अपेक्षा है कि जीवन का परम साध्य मोक्ष को मानना कैसे अयुक्त है, यह नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कि इस आदर्श के अनुसरण का प्रतिपादक बालक है, युवा है या वृद्ध! यों भारतीय संस्कृति की पलायनवादी, जीवन-विमुखी आदि कहकर कुछ लोग आलोचना करते हैं, किन्तु यह आलोचना दार्शनिक आलोचना नहीं कही जा सकती। क्योंकि जगदासक्तिवाद युक्त दृष्टि है और जगद्विमुखतावाद अयुक्त दृष्टि यह दार्शनिक युक्ति-विचार द्वारा दिखाने की अपेक्षा है न कि किसी शब्द का निन्दात्मक भाव से और दूसरे का प्रशंसात्मक भाव से प्रयोग कर देने मात्र से प्रयोग की युक्तता सिद्ध हो जाती है। इसके लिए यह युक्ति दी जाती है कि ऐसी दृष्टि किसी समाज को बाह्य आपदाओं का सामना करने के अयोग्य बना देती है, इस दृष्टि के कारण ही भारत को बाह्य आक्रांता निरन्तर रौंदते रहे हैं। यह तर्क भी किसी दृष्टि के युक्त दृष्टि होने के लिए स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इससे यह आपादित होगा कि महात्मा बुद्ध, तुलसी और कबीर से चंगेज़ खाँ, स्टालिन, हिटलर आदि जैसे लोग श्रेष्ठतर हैं, या मध्ययुगीन मुगल उन समाजों से श्रेष्ठतर थे जिन्हें उन्होंने विजित किया।

किन्तु यह ऐतिहासिक रूप से भी युक्तियुक्त नहीं है कि भारत में यह दृष्टि इसके वार्द्धक्य की द्योतक है, क्योंकि इस दृष्टि का आविर्भाव उपनिषद्-युग में हुआ जब भारतीय समाज कैशोर्य या आरंभिक यौवन की अवस्था में था और बुद्ध-महावीर का काल तो इसके पूर्ण यौवन का काल था। इस काल के बाद ही भारत में बड़े भारतीय साम्राज्यों की स्थापना हुई और दर्शन, काव्य तथा शास्त्रों और कलाओं के क्षेत्र में उत्कृष्टतम सृजन हुए। बाद में बाह्य आक्रांताओं से निरन्तर रौंदे जाते रहने के बावजूद सांस्कृतिक सृजनशीलता की क्षीणता इसमें कहीं भी लक्षित नहीं होती, विज्ञान उद्योग और वाणिज्य में भी यह देश यूरोप तक की तुलना में उत्कृष्टतर था। सबसे बढ़कर, इसी जगद्विमुख दृष्टि वाली यह संस्कृति सहस्रों वर्षों के घात-प्रतिघात के बावजूद अक्षुण्ण बनी हुई है जबकि यूनान, मिश्र, ईरान, सीरिया, मैक्सिको सब सांस्कृतिक रूप से नष्ट हो गए।

इसके बाद दयाजी ने ज्ञान और कर्म की बात की है और उसके बाद सुख-दुःख की। इस सुख-दुःख की बात उन्होंने बड़े ही विचित्र ढंग से की है। वे चिड़िया के घोंसला बनाने का उदाहरण देते हैं और प्रश्न करते हैं कि वे किसके सुख-दुःख के लिए घोंसला बनाती हैं? इस प्रश्न में यह विचार निहित है कि चिड़िया बच्चों के सुख-दुःख के सम्बन्ध में 'विचार कर' घोंसला नहीं बनाती, वह तो बस बनाती है। तो क्या वह शुद्ध सृजन-प्रेरणा से घोंसला बनाती है? ऐसा नहीं है, इसके पक्ष में यहाँ युक्ति देने में समय गंवाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि चिड़िया का घोंसला बनाना सप्रयोजन होता है और प्रयोजन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बच्चों की उत्पत्ति, सँभाल और सुख ही होता है। यही बात उनके दूसरे उदाहरण के लिए भी सही है। माँ-बाप बच्चों को पढ़ाने का कष्ट इसलिए उठाते और बच्चों को यह कष्ट इसलिए देते हैं जिससे वे अपने और बच्चों के सुखमय भविष्य को निश्चित कर सकें—अच्छी आजीविका के द्वारा, या चेतना के परिष्कार के द्वारा, अथवा दोनों प्रकार से। किन्तु यहाँ पुन: उल्लेखनीय है कि दर्शन जब जीवन के साध्य के रूप में सुख-दु:ख की बात करता है तब इन शब्दों का अर्थ बदल जाता है, जिसका विदग्धतम उदाहरण बुद्ध का 'सब्बं दु:खं' है। उसके अनुसार वास्तव में सांसारिक सुख सांसारिक दु:खों से भी बड़े दु:ख ठहरते हैं क्योंकि सांसारिक दु:ख—रोग, वार्द्धक्य, मृत्यु—संसार से विरक्ति के हेतु भी बन सकते हैं, जबकि सांसारिक सुख इस अनुरक्ति को, जो दु:ख की हेतु है, बढ़ाते हैं। यह दृष्टि दोषपूर्ण हो सकती है, किन्तु इसका दोष दिखाने के लिए युक्तियों का रूप एकदम दूसरा होगा, दयाजी की युक्तियों के जैसा नहीं। यों देखा जाय तो दयाजी ने पूरे लेख में कोई युक्ति देने जैसी बात ही नहीं की है, उन्होंने केवल साक्ष्य देने जैसी बातें की हैं, जो साक्ष्य रूप में भी ठीक नहीं है, क्योंकि वे चेतना के नितान्त भिन्न स्तर के साक्ष्य हैं।

आगे वे मूल अविद्या की बात उठाकर कहते हैं—''ग़लती अगर कोई है तो यह मानने में ही है कि ऐसा कोई मूल है जिसके आगे या पीछे जाया ही नहीं जा सकता, या हम किसी ऐसे जाल या तंत्र से बँधे हैं जिससे छुटकारा हो ही नहीं सकता।'' पर ऐसा कौन कहता है? यहाँ उनके ध्यान में काँट है, जैसा कि गोष्ठी में विचार-विमर्श के क्रम में प्रकट हुआ और उसी के तथाकथित दोष को वे भारतीय दर्शन में भी देख रहे हैं। अब भारतीय दर्शन या साधना में अविद्या को अनादि तो कहा गया है किन्तु अनन्त नहीं और इसका अंत उसी समय हो जाता है जिस समय चेतना अपनी उपाधियों के अविद्यात्व को देख लेती है। तभी मोक्ष की संभावना स्वीकार की गई है।

जहाँ तक काँट का सम्बन्ध है, उसकी ट्रांसेंडेंटल केटेगरीज़ और एँटीनोमीज़ भी अतिक्रमणीय हैं। हम ऐन्द्रिय वस्तुओं को जिन रूपों में देखते, पहचानते हैं वे रूप हमारी इच्छा से नहीं बने होते, वे मानव-चेतना की जगद्वृत्ति के स्वरूपगत रूप होते हैं। इस तथ्य को कांट 'अतिक्रामी कोटियां' नाम देता है। किन्तु हम 'देखने' के इन अतिक्रामी या प्रागनुभविक रूपों पर अनुभव के इस स्तर से बाहर आकर विचार कर सकते हैं, जैसे काँट ने किया ही है। इसी क्रम में, यद्यपि बिना किसी क्रम के, दया जी कहते हैं ''इससे भी गहरी ग़लती शायद यह है कि कोई ऐसी दृष्टि या अवस्था है जिसमें कोई अपना गुण नहीं होता, केवल दोष ही दोष होता है।'' इसका प्रसंग क्या है कुछ समझ में नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आया, क्या इसका प्रसंग बुद्ध का 'सब्बं दुःखं' है? इसके साथ ही आगे वे कहते हैं—"अगर ऐसा मानकर चलें कि पीछे की ओर भी उतनी ही अनंतता है जितनी कि आगे की ओर ..." तो हमारा निवेदन है कि ऐसा कोई नहीं कहता। सब केवल पीछे की ओर ही अनंतता-अनादिता कहते हैं, आगे की ओर नहीं। किन्तु यहाँ आश्चर्य की बात यह है कि वे अगले ही अनुच्छेद में स्वयं भी यह कहते हैं कि भारत में अविद्या को अनादि ही माना गया है किन्तु अनंत नहीं। पर तब आप पिछले अनुच्छेद में किसकी बात कर रहे थे?

आगे दया जी वेद की 'सह-परक' दृष्टि का उल्लेख और सराहना कर कहते हैं कि "'आत्म' में या 'आत्म' से 'सह' भावना कैसे लुप्त हो गई और उपनिषदों को केवल आत्मकेन्द्रित विचार के रूप में कैसे समझा गया, इस कहानी की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया है।"

यहाँ पहले तो यह प्रश्न किया जाना चाहिए कि 'व्यक्ति-भाव' 'सह-भाव' से हीन क्यों है? दर्शन में इस प्रकार किसी बात को स्वतःस्पष्ट मानकर उसको हीन या हेय नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह है कि अवश्य उपनिषद् में और आत्मा-केन्द्रित अन्य दर्शनों में सह की बात नहीं है क्योंकि सह की बात चेतना के आनुभविक-लौकिक स्तर पर होती है और उस स्तर के सम्बन्ध में स्मृतियों और अर्थशास्त्रों आदि में विचार हुआ है। जहाँ तक आत्मा-विषयक विचार का सम्बन्ध है उसमें 'आत्म-पर', 'एक-बहु' ये भेद औपाधिक देखे गए हैं। इस प्रकार आत्मा-केन्द्रित विचार 'सह' का निषेध नहीं करता। क्योंकि वह 'एक' की बात ही नहीं करता। 'सर्वखल्विदं ब्रह्म' में यों सर्व की ही बात है। महात्मा बुद्ध की करुणा और करुणा से निर्वाण से जगत् में अवतरण 'अन्यों' के लिए ही है, बोधि-सत्त्व 'अन्यों' के लिए ही कार्य करते हैं—'अपने' को 'त्याग' कर। इसी प्रकार शंकर, कबीर, नानक आदि स्व-परक नहीं थे। दयाजी की ग़लती आत्मा-केन्द्रित को आत्म-केन्द्रित और आत्म या आत्मा को वैयक्तिक स्व की वाचक मानने में है। भारतीय दर्शनों में आत्मा को जैनों और एक तरह से न्याय-वैशेषिक के अतिरिक्त किसी अन्य संप्रदाय ने वैयक्तिक नहीं माना। सांख्य यद्यपि पुरुष-बहुत्व की बात करता है किन्तु उसके ये पुरुष व्यक्ति नहीं हैं और परिणामतः उसमें पुरुष-भेद एक तार्किक कठिनाई है।

आगे दया जी काँट की 'कठिनाई' की बात करते हैं जिसके सम्बन्ध में हमने ऊपर भी टिप्पणी की है। इस 'कठिनाई' के लिए वे जो प्रसंग बनाते हैं वह हमें समझ में नहीं आया। किन्तु उसे छोड़ते हुए यहाँ काँट की कठिनाई की बात देखें। वे कहते हैं—"एक ओर वह इस बात को पूरी तरह मानता था कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

'ज्ञान' उन कोटियों में आबद्ध है जो उसके स्वरूप को निर्धारित करती हैं, क्योंकि 'जानने' का अर्थ ही यह होता है कि उन कोटियों के द्वारा जानना। दूसरी ओर उसका यह भी दावा था कि ज्ञान के स्वरूप का जो रूप है, जिन कोटियों से वह निर्मित या निर्धारित होता है, उसका उसे पूर्ण रूप से ज्ञान है। यही नहीं, उसने तो यह भी दिखाने की कोशिश की है कि इन कोटियों के अलावा कोई और कोटियाँ हो ही नहीं सकतीं।'' यहाँ दयाजी यह समझने में भूल कर रहे हैं कि काँट 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग नितान्त पारिभाषिक अर्थ में कर रहे हैं जिसके अनुसार 'ज्ञान' केवल वह है जिसका प्रथम घटक ऐन्द्रिय संवेद और संवेद-प्रदत्त है। ज्ञान-कोटियाँ इसी संवेद और संवेदप्रदत्तमूलक होती हैं और ये दोनों घटक :संवेद और कोटियाँ: मिलकर 'ज्ञान' बनते हैं। इस ज्ञान पर विचार किया जा सकता है किन्तु यह विचार या विचार-तर्कगम्य ज्ञान उसके अनुसार 'ज्ञान' शब्द-वाच्य नहीं है, यह 'रीज़न' शब्द-वाच्य है। वह इस 'ज्ञान' और रीज़न के बाहर अपनी सावयवता में प्रकृति की और कला की, कर्म की और उसकी कोटियों की और आत्मा तथा उसके स्वतंत्र स्वरूप की बात भी करता है। जब वह यह बात करता है, उसका विवरण देता और विवेचन करता है, तो वह जानता है कि वह इस सबको जानता है, किन्तु वह 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग इस ज्ञान के वाचक के रूप में नहीं करता, इस शब्द का प्रयोग वह केवल संवेद और उनसे सम्बद्ध आकारों और कोटियों से उद्भूत विषय-जगत् के विषयी पक्ष के लिए ही करता है। दयाजी काँट पर आक्षेप करते हैं कि उसने यह विचार नहीं किया कि ''आखिर यह 'आलोचना'-क्रिया (क्रिटिकल एक्टिविटी) संभव कैसे हुई?'' आदि। यह प्रश्न उसने नहीं उठाया यह ठीक है, उसके सम्बन्ध में हमने भी अन्यत्र कहा है कि यदि वह ऐसा करता तो वह वेदान्त के अनुरूप, अधिक उपयुक्त रूप से कहें तो प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के अनुरूप, निष्कर्ष पर पहुँचता। किन्तु ऐसा वह अपनी सांस्कृतिक सीमाओं के कारण नहीं कर पाया।[2] किन्तु यहाँ द्रष्टव्य है कि यदि वह ऐसा करता तो वह इस कारण दयाजी के कोप का भाजन होता कि वह चेतना-केन्द्रित/आत्म-केन्द्रित दर्शन के जाल में फँसा है। किन्तु दयाजी काँट के सम्बन्ध में इससे विपरीत निष्कर्ष निकालते हैं जो उनके दृष्टि-विपर्यास का ही द्योतक है और कुछ नहीं। वे कहते हैं कि यदि काँट अपने से यह प्रश्न करता तो उसे ज्ञान के भी मूल में वही स्वातंत्र्य दिखायी देता जो उसे कर्म के मूल में दिखायी दिया।'' बिल्कुल ठीक। किन्तु इससे यह निष्कर्ष कैसे निकला कि यह दोष ''उस सब चिन्तन में भी है जिसका मूल उस भावना में है जो यह मानकर चलती है कि केवल 'मैं' ही हूँ और बाकी सब 'विषय' मात्र हैं। इस चेनना (केटेगरीज़ में प्रवर्तित होने वाली

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

चेतना) की संभावना पर सोचने से मनुष्य को यह ज्ञात होगा कि यह बात तभी सच हो सकती है जब कोई अन्य हो और वह अन्य भी उसी प्रकार की चेतना रखता हो जैसीकि वह स्वयं रखता है।'' किन्तु प्रत्यक्ष को विषय-रूप देने वाली कोटियों के मूल पर विचार के प्रसंग में 'केवल मैं ही हूँ' इसका और उससे भी अधिक कि 'दूसरे लोग भी हैं' इसका प्रसंग कहाँ से आया? इससे तो केवल यह निष्कर्ष ही निकलता है कि विषय-जगत् चेतना की ही कल्पना है। इसे हमने अन्यत्र[3] काँट के संदर्भ में 'स्वतंत्र आत्म का कल्पना-बन्धन' कहा है। यह आत्म 'मैं' पद-वाच्य नहीं होता, यह केवल चेतना के कर्त्तृत्व का वाचक होता है, कुछ उसी प्रकार के कर्त्तृत्व का जिसे काश्मीर शैवों ने 'शिव की शक्ति' कहा है। आगे दया जी ज्ञान और विषय की परस्पर स्वतंत्रता और विषय की स्वतंत्र सत्ता की बात बड़े विचित्र ढंग से, बिना किसी विचार-वितर्क के, करते हैं और उसके बाद ऐसी बात करते हैं जो एकदम अनूठी है, किसी दार्शनिक को न केवल सूझी नहीं, बल्कि सूझ भी नहीं सकती। वह यह है कि ''विषय भी ज्ञाता हो सकता है और ज्ञाता स्वयं किसी अन्य के ज्ञान का विषय बन सकता है।'' दयाजी ने यह नहीं बताया कि विषय ज्ञाता कैसे हो सकता है। यहाँ विषय से उनका आशय दूसरा व्यक्ति प्रतीत होता है। किन्तु 'दूसरा व्यक्ति भी विषयी हो सकता है' वे यह नहीं कहकर दूसरे व्यक्ति को स्वरूपतः विषय मानकर उसके ज्ञाता होने की बात कर रहे हैं जो दर्शन का थोड़ा भी जानकार नहीं करेगा। इसके सम्बन्ध में हमने पीछे संकेत किया है और इस पर विस्तार से अन्यत्र[4] विचार भी किया है।

आगे दयाजी ने चेतना का व्यावर्तक लक्षण ज्ञान को हटाकर किया है। किन्तु ज्ञान को हटाकर 'अन्य की उपस्थिति' की बात करने की बात हमें समझ में नहीं आयी। 'ज्ञान' से पूरी तरह रहित चेतना का ठीक उदाहरण वानस्पतिक चेतना में मिलता है। उसमें 'अन्य की उपस्थिति' की बात कैसे की जा सकती है? 'अन्य' 'मैं' का प्रतिपक्ष या सम-पक्ष होता है और यह पक्ष-प्रतिपक्ष केवल ज्ञान में ही संभव हो सकता है। सुख-दुःख में 'अन्य' की उपस्थिति की कोई अपेक्षा नहीं होती, इच्छा, भावना आदि में होती है, किन्तु उसमें ज्ञान सह-युक्त रहता है। ज्ञान से वियुक्त इच्छा अभाव-संवेद मात्र होती है जिसे शुद्ध दुःख भी कहा जा सकता है। इसमें अन्य की उपस्थिति नहीं रहती। 'अन्य' विषय रूप में भी अन्य हो सकता है और विषयी रूप में भी, जब वह हमें हमारे अपने लिए उसकी विषयता में प्रत्युपस्थित कर देता है। किन्तु 'अन्य' को ज्ञान के (चेतना के) अंग रूप में नहीं रखने से दयाजी अपने लिए किस लाभ की कल्पना कर रहे हैं? चेतना के लक्षण में ज्ञान को रखने से उन्हें कोई लाभ या हानि नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

होती। जो भी हो, चेतना चाहे जगत् में 'मैं' और 'अन्य' में विभक्त और परस्पर भाव में ही सर्वत्र उपलभ्य हो किन्तु इसे चेतना का लक्षण नहीं बनाया जा सकता। 'ब्राह्म चैतन्य', 'सामान्य चेतना', 'आलय विज्ञान' इन अवधारणाओं में कोई वदतोव्याघात नहीं है। दयाजी आगे स्वयं भेद को ''व्यवहार-जगत्'' की बात कहते हैं और परमार्थ में इसे अस्वीकार करते हैं। तो क्या परमार्थ में चेतना नहीं होती? व्यवहार और परमार्थ के भेद का ध्यान दयाजी को लेख के अन्त में जा कर आया है। किन्तु यहाँ भी उन्होंने वही गड़बड़ियाँ की हैं। पहले वे कहते हैं, ''भेद की बात व्यवहार-जगत् में होती है, परमार्थ-जगत् में नहीं'' किन्तु कुछ वाक्यों के बाद वे कहते हैं—''दूसरी ओर परमार्थ-जगत् में भी भेद कम प्रतीत नहीं होते।'' चलिए, इनमें से किसी भी एक बात को दयाजी की कही बात मान लें, (दोनों को तो माना जा नहीं सकता) क्योंकि इससे उनकी सारी बात में कोई अन्तर नहीं पड़ता। किन्तु इसके बाद वे थोड़े भावुक हो जाते हैं और अन्त में **गीता** का श्लोक उद्धृत करते हैं जो उनके पूर्वोद्धृत मौलिक भेदवाद के उलट जाता है। कृष्ण की सर्वत्र उपस्थिति सबको कृष्णमय बना देती है और इस प्रकार यह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' को ही दूसरे ढंग से कहती है, जिसमें सब भेदों का विलय हो जाता है।

संदर्भ

1. 'मनुष्य और जगत्', **चिद्विमर्श**, दर्शन-प्रतिष्ठान, जयपुर, 1994 में संकलित।
2. द्रष्टव्य—**चिद्विमर्श** में 'तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा' तथा **पाश्चात्य दर्शन का इतिहास**, भाग 2 में हमारा लेख 'इम्मेनुअल काँट', सं. दयाकृष्ण, प्रकाशक : राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।
3. **प्रमुख भारतीय और पाश्चात्य दर्शन-धाराएँ**, यशदेव शल्य और भगवती, प्रकाशक : दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर में 'इम्मेनुअल. काँट' लेख।
4. **साहित्य-चिन्तन और युग-चिन्तन**, प्रका. राका प्रकाशन, इलाहाबाद में 'अन्यत्व और उसके विविध रूप' लेख।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

राजेन्द्रस्वरूप भटनागर

गौतम बुद्ध की अनत्ता की अवधारणा तथा चार्वाकों की देह-देही अभदे की अवधारणा को छोड़ कर लगभग सभी भारतीय दार्शनिक परम्पराएँ 'आत्म' या 'आत्मा' को अपने विचार-तन्त्र में प्रमुख स्थान देती हैं। अद्वैतवेदान्त-परम्परा में 'आत्मा' को न केवल मूल तत्त्व माना गया है अपितु उसे एकमात्र मूल तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इस रूप में आत्मा विभिन्न भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में एक विशिष्ट स्थान रखती है। 'आत्मा' को एक मात्र सत् मानने पर भी, जैसा सभी जानते हैं, अद्वैत वेदान्त में सांसारिक प्रपंच को पूर्णतया न नकारते हुए उसे एक समस्यामूलक स्थान देकर 'व्यावहारिक जगत्' की संज्ञा दी गई है।

दूसरी ओर धर्मवेत्ताओं ने व्यावहारिक जगत् को अधिक गम्भीरता से लिया है। यदि विभिन्न धर्मशास्त्रों की विषय-वस्तु को पूर्वापर क्रम के सन्दर्भ में लिया जाय तब उनमें सुधार और परिवर्धन के रूप में परिवर्तन को भी लक्ष्य किया जा सकता है। ऐसा होते हुए भी, समाज की एक विशिष्ट व्यवस्था (वर्णाश्रम व्यवस्था) को तथा पुरुषार्थ चतुष्टय को जीवन के नियामक निर्देश के रूप में सभी धर्मज्ञों ने स्वीकारा है। इस व्यवस्था तथा जीवन के इन लक्ष्यों के प्रति किसी क्रांतिकारी वैचारिक परिवर्तन का सुझाव हमें दृष्टिगत नहीं होता। परम पुरुषार्थ के रूप में मोक्ष के आलोक में किसी न किसी रूप में कर्मज्ञों ने भी 'आत्मा', उसके ज्ञान तथा स्वरूप-प्राप्ति को ही प्रमुख स्थान दिया है। एक दृष्टि से कहा जा सकता है कि यह एक ऐसा विचार-परिप्रेक्ष्य है जिसमें सांसारिक सन्दर्भ में जो अन्य व्यक्ति है, अथवा जो बाह्य जगत् है, इसके विविध आयाम तथा मूल्य उपेक्षित रह जाते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि दया जी अपने लेख ''आत्म केन्द्रित चिन्तन की मूल भ्रान्तियाँ' में ऐसे ही किसी परिप्रेक्ष्य के सन्दर्भ में कुछ विचार बिन्दु प्रस्तुत करते हैं। 'आत्मानं विद्धि' की दिशा जिस रूप में भारतीय चिन्तन की एक प्रमुख धारा में मुखर हुई है उसमें सांसारिक विषयों से पूर्ण निवृत्ति की अनिवार्य भूमिका है। मुमुक्षु के लिए इस दिशा में अग्रसर होना अपने परमं पुरुषार्थ के निमित्त, अन्य जो कुछ भी है---अन्य प्राणी, व्यक्ति, शेष सभी विषय, उसे निर्मूल और निस्सार मान लेना है। शंकराचार्य का **आत्माष्टक** इस तथ्य की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति है।

इसी दिशा में विचार करते हुए दया जी स्पष्ट करते हैं कि निवृत्तिपरक वृत्ति के सन्दर्भ में दार्शनिक ज्ञेय तथा विषय को हेय और सारहीन मानते हुए उसमें अरुचि रखते हैं। इसके विपरीत दया जी का मत है कि ज्ञानमीमांसा की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दृष्टि से ज्ञेय/विषय ज्ञाता/विषयी से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसका अपना महत्त्व है। वह अनेक आयामों तथा सम्भावनाओं से युक्त होता है। इसकी उपेक्षा या अवहेलना व्यक्ति के बहु-आयामी पुरुषार्थों और तत्सम्बन्धित कर्म और व्यापारों की भी उपेक्षा करना है।

इस सन्दर्भ में दया जी एक रोचक तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। ज्ञाता अथवा विषयी का अपना महत्त्व है। उसके विषयिता पक्ष की महिमा की बात खूब हुई है। परन्तु विषयी का एक विषय पक्ष भी है। विषय मात्र को उपेक्षणीय मानने के कारण इस पक्ष की भी उपेक्षा हो जाती है। यह एक रोचक बात है कि शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसे अपनी प्रशंसा अच्छी न लगती हो। परन्तु प्रशंसित होना किसी रूप में अन्य के लिए विषय होना है। हमारे प्रति कोई चिन्ता करता है, कृपादृष्टि रखता है, या प्यार को अभिव्यक्त करता है, तब क्या वह हमें किसी रूप में विषय नहीं बनाता? स्तुति और नाम जपने में क्या अपने आराध्य को हम विषय रूप में नहीं देखते होते? दया जी की बात को एक और बिन्दु से अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। कोई रचनाकार जब किसी विषय को देखता है, उसका अनुभव करता है, उसके किसी विलक्षण पक्ष से प्रभावित होता है, और फलस्वरूप उस अनुभव को एक अभिव्यक्ति देता है, तब विषय के सन्दर्भ में उसकी प्रतिक्रिया किस प्रकार की होती है? इस प्रश्न का उपयुक्त उत्तर तभी प्राप्त हो सकता है जब विषय को केवल भोग की वस्तु न समझा जाय।

सामान्यतया विषय को कामना तथा भोग का विषय समझा गया है और उस रूप में उसे बन्धन का कारण माना गया है। तभी हमें लगता है कि किसी व्यक्ति को विषय रूप में देखना उसके विषयित्व को हानि पहुँचाना, उसकी गरिमा को कम करना तथा उसका शोषण करना है, और इसी दृष्टि से उसके साध्यत्व की ओर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास हुआ है। परन्तु उपर्युक्त विमर्श से यह पक्ष विषय के सन्दर्भ में केवल एक पक्ष ठहरता है। विषय को देखने के और अनेक पक्ष सम्भव हैं।

विषय के निर्मूलीकरण में एक और विचार प्रभावी होता है। विषय को लेकर बहुधा यह भ्रम होता है कि क्या जो हम देख रहे हैं वह वही है जो वह वास्तव में है? यहाँ सर्प-रज्जु जैसे दृष्टान्तों की ओर सहज ही ध्यान जाता है। प्रश्न उठता है कि इस समस्या का क्या समाधान हो? भ्रम का निवारण कैसे हो? कहा गया है कि भ्रम का एक प्रमुख कारण अज्ञान है। इस जाने-बूझे प्रकरण में जाकर पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है। इसके उल्लेख का अभिप्राय इस ओर संकेत करना है कि ऐसे ही भ्रमात्मक प्रत्यक्ष के सदृश समस्त अस्तित्व अथवा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जगत् को भी एक भ्रम के रूप में देखा गया है तथा भ्रम के निवारण के रूप में उसे (जगत् को) असत् मान लिया गया हैं। यदि कोई विषय हो ही नहीं तब ज्ञाता को भ्रम कैसे हो सकता है?

तब ज्ञान का अर्थ क्या रह जाता है? ज्ञाता का आत्म-ज्ञान ही एकमात्र ज्ञान ठहरता है। यहाँ ज्ञान से जो अर्थ लिया जाता है वह स्पष्ट ही विषय-ज्ञान से नितान्त भिन्न होता है। वर्तमान प्रसंग में महत्त्व की बात यह है कि विषय सम्बन्धी यह दृष्टि उससे छुटकारा पाने के लिए उसे सत् ही नहीं मानती।

दूसरी ओर मूल्य-मीमांसा के सन्दर्भ में भी विषय को निस्सार बताया गया है। यही नहीं, उसे एक छलिया के रूप में देखा गया है। वह हमारे बन्धन, आवागमन का प्रमुख कारण कहा गया है। उसके माया-जाल से बचने के लिए उससे पूर्णतया निवृत्ति आवश्यक है। मुक्ति, परमानन्द तथा परम पद आदि के लिए सभी कामनाओं, संकल्पों का त्याग आवश्यक है। दया जी इस दृष्टि को दोषपूर्ण मानते हैं। उनका कहना है कि विषय के विविध आयाम उसकी अनेकानेक सम्भावनाओं का निर्देश करते हैं। इन सम्भावनाओं से संसार के मूल्य पक्ष का उद्घाटन होता है।

विषय की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में दया जी ने ऐसे बिन्दुओं को केन्द्र में रखा है जिनकी बहुधा दार्शनिक परम्पराओं में अनदेखी होती है। उनकी दृष्टि से इस अनदेखी का कारण आत्मकेन्द्रिकता है। उनके मत में आत्मकेन्द्रिकता का एक दुष्परिणाम विषय की भाँति दूसरे की अवहेलना है। यदि हम चेतना के रूप को ठीक-ठीक समझें तो यह स्पष्ट होगा कि चेतना अनेक अन्य चेतनाओं के बीच स्थित होती है। यह आवश्यक नहीं है कि सभी चेतना-केन्द्र एकरूप हों। वस्तुतः उनमें प्रकार-भेद होते हैं। मैं अपने ढंग से कहूँ तो ये भेद व्यक्तियों के स्वतन्त्र व्यक्तित्वों में प्रकट होते हैं।

जिस संसार में हम रहते हैं उसका वर्तमान रूप अनेक व्यक्तियों के मिले-जुले कर्म का नतीजा है। इस मिले-जुले कर्म की एक सुदीर्घ परम्परा है। आत्मकेन्द्रिकता के अर्थ में व्यक्ति स्वयं को दूसरों से अलग कर स्वयं को सामूहिक यज्ञ से विमुख कर लेता है। उसका ध्यान इस ओर नहीं जाता कि इसी सामूहिक यज्ञ के कारण उसका अस्तित्व है, इसमें उसके जीवन की दिशा निहित है और इसी के फलस्वरूप उसके मूल्य-जगत् का स्वरूप उभरता है। इस बात के साथ दयाजी इस ओर भी ध्यान आकृष्ट करते हैं कि ऐसा मानना भूल होगी कि जो कुछ होता आया है, जो कुछ हो रहा है, वह सब ठीक है, वांछनीय है; उस पर विचार की, मूल्यांकन की कोई आवश्यक्ता नहीं है। विचार तथा कर्म के प्रति सतत आलोचनात्मक दृष्टि का महत्त्व कम नहीं किया जा सकता।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आत्मक्रेन्द्रिकता के एक अन्य कारण की ओर इशारा करते हुए दया जी नित्य सुख के विषय में कुछ रोचक बातें कहते हैं। पहली बात तो यह है कि यह भ्रान्ति है कि मनुष्य सदैव सुख से प्रेरित होता है और दुःख से बचने की चेष्टा करता है। वस्तुतः जैसे पहले कहा गया है, सुख-दुःख कर्म के आनुषंगिक पक्ष होते हैं तथा कर्म का व्यक्त लक्ष्य या प्रयोजन नहीं होते। और भी रोचक तथ्य यह है कि अनेक कर्मों तथा व्यापारों में दुःख/कष्ट/पीड़ा एक घटक के रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते हैं। मनुष्य की सहनशीलता, साहस, श्रम तथा शौर्य का मूल्यांकन उसके कष्टकारी घटक की मात्रा पर निर्भर होता है। जैसा दया जी कहते हैं, यह एक ऐसा पक्ष है जो मनुष्य को अन्य प्राणियों से अलग करता है।

यद्यपि दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति की समस्या उठाई गई है, उसके समाधान भी दिये गये हैं, परन्तु ऐसा नहीं लगता कि शरीर रहते कोई भी दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति पा सकता है। दूसरी ओर नित्य सुख की कामना की खूब बात हुई है। परन्तु इस बात पर कम ही ध्यान गया है कि एक ही भाव-स्थिति में कोई मनुष्य कितने समय तक रह सकता है। नित्य सुख की चर्चा में हम अपने साधारण अनुभव को पूर्णतया विस्मृत कर देते हैं।

इस सन्दर्भ में दया जी के विवेचन से प्रतीत होता है, और शायद ठीक ही, कि सौन्दर्यानुभूति साधारण सुखानुभूति से भिन्न होती है। "सुबह का सूर्य, रात का चाँद, खिलते हुए फूल सब अच्छे ही लगते हैं और उनको देखकर जो अनुभूति होती है वह साधारणतः सुख नहीं कही जाती।"

दया जी यह प्रश्न उठाते हैं कि आख़िर व्यक्ति स्वकेन्द्रिकता के घेरे में कैसे आबद्ध हो जाता है? वे स्वीकार करते हैं कि एक सीमा में स्वकेन्द्रिकता अनिवार्य है। कोई अपने अनुभव के परे कैसे जा सकता है? परन्तु वे साथ ही इस बात की ओर भी ध्यान आकृष्ट करते हैं कि यह स्वीकृति तस्वीर के एक ही पक्ष का संकेत देती है। जगत् के बिना व्यक्ति की क्या स्थिति हो सकती है? एक विचित्र तथ्य यह है कि भारतीय परम्परा में अति प्राचीन काल से यह आह्वान किया गया है कि "आओ साथ सोचें, साथ चलें ... ।" साथ की यह भावना व्यक्ति के एकाकी पुरुषार्थ में कहाँ खो गई? दया जी कहते हैं, "हमारी परम्परा में यह कहा गया है कि राजा प्रजा के पाप-पुण्य का भागी होता है, क्योंकि अगर राजा अच्छा होता है तो प्रजा आसानी से पुण्य कार्य कर सकती है और अगर राजा बुरा होता है तो अधर्म करना आसान होता है और धर्म-पालन मुश्किल। इस विचार को अगर गहराई से समझें और उसको ज्ञान-कर्म-भाव से रूपायित और अवतरित करने की चेष्टा करें, तो उस दृष्टि को समझ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पायेंगे जो वेदों में "सहनाववतु सह नो भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै तेजस्विनाववधीतमस्तु मा विद्विषांवहै" के रूप में मिलती है, जिसका केन्द्र-बिन्दु सह है, शुद्ध या केवल आत्मा नहीं।"

साथ सीखने की बात में यह निहित है कि एक दूसरे से सीखता है। यह केवल सैद्धान्तिक निर्देश नहीं अपितु एक व्यावहारिक वास्तविकता भी है। परन्तु जब छोटे-बड़े, गुरु-शिष्य की भेद एक कठोर असमता का रूप ले लेता है तब यह भ्रम होने लगता है कि सिखाने वालों की कोटि एक है तथा सीखने वालों की कोटि दूसरी, दोनों में आदान-प्रदान की बात सम्भव नहीं। ऐसी अवस्था में स्वस्थ समीक्षा एवं मूल्यांकन का अवकाश घटने लगता है। यह स्थिति किसी भी परम्परा की प्रगतिशीलता में अवरोध उत्पन्न करती है। हमारी परम्परा में भी ऐसा हुआ है।

यहाँ तक दया जी जिन बातों की ओर ध्यान दिलाते हैं वे एक सही दिशा का निर्देश करती लगती हैं। परन्तु उनके लेख में कुछ ऐसे बिन्दु भी हैं जो सोच में खलबली मचाते हैं। वे कहते हैं, साधारण व्यक्ति आत्यन्तिक निवृत्ति की बात नहीं करता तथा सुदीर्घ दार्शनिक परम्परा ने उसका कोई भला नहीं किया। जिन भूलों तथा भ्रान्तियों की ओर लेख में ध्यान आकृष्ट किया गया है उनका सम्बन्ध दार्शनिकों से है, साधारण व्यक्ति से नहीं।

मोटे रूप में कह सकते हैं कि साधारण आदमी की समस्या रोटी, कपड़ा और मकान की है और दार्शनिक इन में से किसी भी समस्या का समाधान नहीं करता। दर्शन रोटी नहीं पकाता और जो वह पकाता है उससे भूख नहीं मिटती। दर्शनशास्त्र तथा दार्शनिकों के प्रति इस प्रकार के आरोप की लम्बी परम्परा है। प्रश्न उठता है कि क्या साधारण दृष्टि तथा दार्शनिक दृष्टि एक-दूसरे से नितान्त असंबद्ध हैं? दया जी ने कहा है कि दार्शनिक की रुचि विषय के सामान्य रूप में होती है, विशिष्ट रूप में नहीं। परन्तु क्या सामान्य की बात बिना विशिष्ट को ध्यान में लिए सम्भव है? क्या सामान्य तथा विशिष्ट में अलंघ्य भेद है? यदि प्लेटो का स्मरण करें तो सर्वव्यापी सामान्य के अतिरिक्त एवं नितान्त विशेषों के अतिरिक्त, सामान्य तथा विशेष एक सापेक्ष रूप ग्रहण कर लेते हैं। जो एक स्तर पर सामान्य है वह अधिक उच्च स्तर के सामान्य की दृष्टि से विशेष का रूप ले लेता है। सामान्य तथा विशेष का यह रिश्ता साधारण दृष्टि तथा दार्शनिक दृष्टि के बीच कठोर रेखा में नहीं रहने देता।

साधारण व्यक्ति यदि अपनी समस्याओं पर विचार करने में साधारण से अधिक समय दे सके, उसकी विचार-प्रणाली में कुछ अधिक व्यवस्था तथा संयोजन हो तथा वह एक बृहद् परिप्रेक्ष्य में देखने की चेष्टा करे, तब वह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दार्शनिक के चिन्तन से बहुत दूर नहीं होगा। वस्तुतः साधारण व्यक्ति जिन दैनन्दिन आवश्यक्ताओं से घिरा रहता है उनमें उसे तात्कालिक समाधानों से ही काम चलाना पड़ता है। उसे त्वरित निर्णय लेने होते हैं तथा वह कर्म के लिए विवश होता है। परन्तु साधारण व्यक्ति के जीवन में ऐसे अवसर आ सकते हैं और आते हैं जब उसका काम तात्कालिक समाधानों से नहीं चलता। मूल्यों का संकट तथा उनका संघर्ष इसी प्रकार के अवसर प्रदान करते हैं और ऐसे अवसरों पर किसी भी साधारण व्यक्ति का सोच लगभग वही रूप ग्रहण कर लेगा जो एक दार्शनिक के सोच का होता है। साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि दार्शनिक जिन समस्याओं से जूझता है वे जीवन के किसी न किसी पक्ष का स्पर्श करती हैं। यह एक अलग बात है कि वह चिन्तन की किसी परम्परा में अपने को स्थित पाता है तथा उस परम्परा को बढ़ाने या बदलने का प्रयास करता है।

इस सन्दर्भ में एक और बिन्दु की ओर ध्यान जाता है। दार्शनिकों के निष्कर्ष किसी रूप में सामान्य अथवा साधारण चेतना में व्याप्त मिलते हैं, यद्यपि वे न तो उतने स्पष्ट होते हैं और न ही युक्तियुक्त रूप में होते हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं होती यदि हम किसी गाँव के किसी अनपढ़ व्यक्ति के मुख से 'पिछला जन्म', 'आत्मा', 'ईश्वर की लीला', 'माया' आदि जैसे शब्द सुनते हैं। दुःख तथा अवसाद की अवस्थाओं में 'भाग्य', 'माया', 'लीला', 'कर्म-फल' जैसी धारणाएँ महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक भूमिका निभाती हैं। कहा जा सकता है कि दार्शनिक मान्यताओं के साधारण स्तर पर सम्प्रेषण में सन्त-परम्परा तथा भक्ति-परम्परा की भूमि रही है। इन परम्पराओं में अनावश्यक भेद-भावों के निराकरण, परस्पर सौहार्द्र तथा निरंहकारिता पर बल दिया जाता रहा है। यह दूसरी बात है कि संस्थागत संगठनों में इनकी क्रियान्विति न केवल धूमिल पड़ जाती हैं अपितु कभी-कभी विकृत रूप भी ले लेती है।

दया जी लिखते हैं, "... परमार्थ और व्यवहार के सम्बन्ध के बारे में कोई निश्चित बात कहना असम्भव है क्योंकि वह सम्बन्ध ईश्वर और जगत् के बीच का सम्बन्ध है, या जो त्रिकालातीत है उसका काल से सम्बन्ध है, और इस सम्बन्ध को न बुद्धि समझ सकती है न कोई और शक्ति जो मनुष्य के पास है।" वे यह भी कहते हैं, "... ये सम्बन्ध हैं और इनके सहारे ही और सब सम्बन्ध खड़े हैं।" इन कथनों को पढ़कर मन में विचित्र भाव उत्पन्न होता है। पहले तो यह कि इन कथनों में जो ध्वनि है वह दया जी के लेख के टैम्पर से मेल नहीं खाती। यह बात दया जी की बुद्धिवादी तथा समीक्षात्मक दृष्टि से संगत नहीं लगती। ऐसी बातें दार्शनिक या तो विवेचन को समाप्त करने के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लिए कहते हैं या वे उस से थक जाने पर करते हैं। वस्तुतः ऐसी अवस्था में वे जनसाधारण दृष्टि के बहुत निकट होते हैं।

उनके लेख की अन्तिम पंक्तियाँ, जिनमें वे एक ऐसे भाव-जगत् की ओर इशारा करते हैं जिसमें दूसरा नहीं रह जाता, जिसमें सभी में किसी एक को देखा जाता है, उस वैविध्यपूर्ण समृद्ध संसार का बोध नहीं करातीं जिसमें दो व्यक्ति अन्त तक दो बने रहते हैं और फिर भी एक-दूसरे की विलक्षणता तथा स्वतन्त्रता का आदर करते हैं।

आत्मकेन्द्रितता और शल्य जी

दया जी के लेख की तुलना में शल्य जी की समीक्षा में प्रशंसनीय व्यवस्था और कसावट है। उनकी समीक्षा को पढ़ने से लगता है कि उन्होंने दया जी के लेख को बड़े मनोयोग से तथा धैर्यपूर्वक पढ़ा है। उनकी समीक्षा की प्रस्तुति इतनी सौष्ठवपूर्ण है कि उसे समीक्षा का विषय बनाने का मन नहीं होता। परन्तु दुबारा पढ़ने पर लगता है कि उनका यह मानना कि दया जी के लेख में कोई केन्द्रीय बिन्दु नहीं है, और जो कुछ वे कहते हैं उसमें विचार-शृंखला का अभाव है, पूर्णतया न्यायोचित नहीं है।

दयाजी के लेख को पढ़ते हुए कम से कम मुझे ऐसा नहीं लगा कि उसमें कोई केन्द्रीय बिन्दु नहीं है तथा उसके पीछे कोई युक्तियुक्त विचार केन्द्र में नहीं है। जब इस लेख पर गोष्ठी में विचार हुआ था तब शायद आयुष्मान ने भी यह प्रश्न उठाया था कि दयाजी का 'आत्मकेन्द्रित चिन्तन' से क्या आशय है? परन्तु मुझे लेख पढ़ने पर न तो यह महसूस हुआ कि आत्मकेन्द्रित चिन्तन लेख का मूल विषय नहीं है और न ही यह लगा कि उसे अधिक परिभाषित करने की आवश्यक्ता थी। ऐसा अवश्य लगता है कि दया जी अपनी बात कहते हुए एक विशिष्ट विचार-परम्परा को ध्यान में रख रहे हैं तथा यह मानकर चल रहे हैं कि मोटे रूप में भारतीय दृष्टि इस विचारधारा से प्रमुख रूप में प्रभावित है। दार्शनिकों तथा दार्शनिक चिन्तन पर जब वे सामान्य रूप में टिप्पणियाँ करते हैं तब अवश्य उनकी आलोचना अतिव्याप्त हो जाती है।

शल्य जी प्रश्न उठाते हैं कि सुख-दुःख की बात में तथा आत्मकेन्द्रिकता में क्या सम्बन्ध है? आगे वे कहते हैं कि "सुख-दुःख में 'अन्य' की उपस्थिति की कोई अपेक्षा नहीं होती, ..." तो क्या इस बात से यह अर्थ नहीं निकलता कि सुख-दुःख की बात केवल स्वयं अर्थात् 'आत्मा' के सन्दर्भ में ही होती है? और क्या जब कोई केवल अपने पुरुषार्थ के विषय में ही सोचता है, या कहें कि अपने सुख के विषय में ही सोचता है, तब सुख-दुःख की बात तथा आत्मकेन्द्रिकता असम्बद्ध प्रतीत होते हैं? इस सन्दर्भ में जो महत्त्व का प्रश्न

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लगता है वह यह है कि क्या साधारण सुख-दुःख की अनुभूतियाँ तथा नित्य सुख अथवा परमानन्द की अनुभूतियाँ गुणात्मक दृष्टि से एक ही प्रकार की हैं? यदि उन्हें एक प्रकार की नहीं मानें तब यह प्रश्न उठेगा कि नित्य सुख अथवा परमानन्द किस प्रकार की अनुभूति होती है? यहाँ एक बात और भी ध्यान देने की है कि जब क्षणभंगुर सुख को छोड़कर नित्य सुख की बात की जाती है तब सुख की विभिन्न श्रेणियों में किस बिन्दु पर वह कठोर रेखा खींची जा सकती है जहाँ क्षणभंगुर सुख तथा नित्य सुख अलग हो जाते हैं? इसका सीधा सा उत्तर होगा कि जहाँ व्यक्ति की सुखानुभूति में व्यवधान की सम्भावना पूर्णतया तिरोहित हो जाय वहीं उसे नित्य सुख की प्राप्ति होगी। परन्तु नित्य सुख से यह आशय नहीं लिया जाता। यदि यही आशय होता तब एक नित्य भावस्थिति में रहना भले ही दूर से आकर्षक लगे उस स्थिति में पहुँचने पर व्यक्ति उसमें बहुत समय तक नहीं रह सकता। अब क्योंकि सम्भवतया नित्यसुख से आशय न तो व्यक्ति के सुख से है और न साधारण अर्थ में सुख से है, तब इस सुख की बात नितान्त भिन्न स्थिति की बात है। वस्तुतः जिस प्रकार निर्विषय ज्ञान साधारण अर्थ में ज्ञान नहीं होता, भले ही उसे एक मात्र ज्ञान माना जाता हो, उसी प्रकार नित्य सुख, जो व्यक्ति का सुख न होकर आत्मा का सुख होता है, साधारण अर्थ में सुख नहीं होता, भले ही उसे एकमात्र सुख समझा जाता हो। जिस प्रकार ज्ञान की बात सामान्य सन्दर्भ में बिना विषय के नहीं हो सकती उसी प्रकार सुख की बात बिना संवेदन-तन्त्र के नहीं हो सकती और उस सन्दर्भ में नित्य सुख की बात से क्षणभंगुर सुख की धारणा का निर्मूलीकरण नहीं हो सकता। परन्तु सुख की बात कुछ अधिक ही हो गई। बात तो यह थी कि आत्मकेन्द्रिकता की अवस्था में व्यक्ति को अपने सुख-सन्तोष के अतिरिक्त और कुछ नज़र नहीं आता। मुश्किल यह है कि दया जी जो कहते हैं वह हमारा ध्यान इस ओर न ले जाकर इस दूसरी ओर ले जाता है, जहाँ प्रश्न यह हो जाता है कि क्या व्यक्ति सुख चाहता भी है? और उस अवस्था में जब शल्य जी सुख की बात को आत्मकेन्द्रिकता से असम्बद्ध देखते हैं तो आश्चर्य नहीं होता। यद्यपि वे स्वयं ऐसा प्रसंग उपस्थित करते हैं जिसमें दोनों अवधारणाओं का सम्बन्ध स्पष्ट लगता है।

सर्वत्र दुःख है, अथवा सब कुछ दुःखमय है तथा दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति उचित साध्य है और यह दुःख आत्यन्तिक व्यर्थता-बोध को उत्पन्न करता है इसलिए आत्यन्तिक सार्थकता को प्राप्त कराता है, शल्य जी ने इस बात की ओर ठीक ही ध्यान दिलाया है। परन्तु दया जी के लेख में इस दृष्टि पर ही प्रश्न चिह्न लगाया गया है। इस दृष्टि को बचकानी दृष्टि कहें या न कहें यह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बात इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी कि यह बात कि व्यर्थता-बोध की यह स्थिति उस सतत प्रयास का प्रकार है जो हमें इस संसार में, अपने समाज में, अपने जीवन में जो कुछ अवांछनीय है उसे दूर करने, एक बेहतर दुनिया बनाने, जीवन को अधिक उत्कृष्ट रूप में बदलने से सम्बन्धित है। और यदि यह व्यर्थता-बोध एक सच्चाई को अभिव्यक्त करता है तथा आत्यन्तिक रूप में सार्थक है तब दार्शनिकों का दायित्व यह बताना है कि उसकी सार्थकता को स्वीकार करते हुए भी उन प्रयासों में प्रवृत्ति क्यों और कैसे हो जो दुनिया को, समाज को तथा जीवन को बेहतर बनाने के निमित्त किये गये हैं, या किये जा सकते हैं।

यह सही है कि केवल हार या जीत से किसी जाति या राष्ट्र की उत्कृष्टता सिद्ध नहीं होती, परन्तु जो कारण आक्रांताओं की विजय के सम्बन्ध में भारतीय सन्दर्भ में इतिहासज्ञ बताते हैं उनका सम्बन्ध एक ओर मानवीय दुर्बलताओं से है तो दूसरी ओर एक सशक्त व्यवस्था के निर्माण के प्रति उदासीनता से भी है और यह उदासीनता यदि उस दृष्टि की उपज हो जो प्रवृत्ति मात्र को अवांछनीय ठहराती है, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी। परन्तु ऐसे किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व तथ्यपरक अनुसन्धान की आवश्यक्ता है, अन्यथा इस प्रकार की बात मनोगत झुकाव से अधिक कुछ नहीं होगी।

शल्य जी का यह आग्रह कि दार्शनिक का विषय केवल सामान्य ही होता है, मुझे एकांगी लगता है। यह मानते हुए भी कि विचार तथा भाषा सामान्य के माध्यम से ही सम्भव होते हैं यह मानना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि सामान्य से निर्दिष्ट विशेष हमारी दृष्टि से ओझल नहीं हो। बड़ी सीधी सी बात है, यदि दो सामान्यों के बीच भेद करना हो तो हमारे पास उसका निश्चय करने का क्या तरीका होगा? क्या इस अवस्था में विशेष की ओर इंगित करना आवश्यक नहीं होगा?

इसके अतिरिक्त, चिन्तन का आरम्भ बहुधा किसी विशेष के प्रति जिज्ञासा से, दो विशेषों के समस्यामूलक सम्बन्ध से, जीवन में किसी असाधारण परन्तु विशिष्ट घटना से प्रेरित होता है। कुछ भी हो, सामान्य को विशेष से नितान्त अलग कर नहीं देखा जा सकता। 'कर्म-रचित' संसार केवल कुम्हार, बढ़ई या उच्च तकनीकी के विशेषज्ञ से सम्बन्धित नहीं है, उसका सम्बन्ध एक अच्छे समाज के निर्माण से भी है। और फिर तकनीकी, कर्म तथा सामाजिक व्यवस्था असम्बद्ध नहीं हैं। यदि इन विशिष्ट सरोकारों की ओर ध्यान न देकर, या उनके मूल्य अथवा अर्थ-जगत् से सम्बन्ध को उपेक्षणीय मानकर चिन्तन होगा तब फिर वह स्वान्तःसुखाय होकर रह जायगा, अधिक से अधिक वह एक कल्पना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

में विचरण होगा। कहते हैं, अत्यन्त उच्च शिखरों के पास ऑक्सीजन की कमी हो जाती है।

एक स्थान पर शल्य जी कहते हैं कि "चेतना के आत्मचेतन होने का अर्थ यह ही है कि वह अपने को ही विषय-रूप में भी देखती है।" परन्तु यह सभी जानते हैं, तथा शल्य जी भी इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हैं कि उनका यह कथन समस्यामूलक है। यह प्रश्न उठाया गया है कि विषयी स्वयं विषय कैसे हो सकता है? और उससे 'स्वप्रकाशित' या 'आत्मप्रकाशित' का सम्प्रत्यय प्रस्तुत हुआ। जिस अर्थ में तथा जिस सन्दर्भ में कोई अपने को विषय-रूप देखता है वह इस तार्किक ऊहापोह के बावजूद व्यवहार में सम्भव देखा जाता है। अपने बारे में हम में से प्रत्येक सोचता है। शल्य जी इस बात पर ठीक ही ध्यान दिलाते हैं कि प्रत्यक्ष रूप में 'विषयी' तथा 'विषय' पद एक-दूसरे से नितान्त भिन्न हैं परन्तु विषयी को विषय-रूप में तथा विषय को विषयी रूप में देखा जा सकता है। परस्पर चेतनाओं के सम्बन्ध के सन्दर्भ में वे बताते हैं कि दया जी आत्मकेन्द्रितता तथा अहं-केन्द्रितता में अन्तर नहीं करते। मुझे लगता है कि समस्या 'अत्म' और 'व्यक्ति' के बीच है। जिस प्रकार के सम्बन्धों की बात दया जी कर रहे हैं वे व्यक्ति व्यक्ति के बीच होते हैं। इन सम्बन्धों में अहं प्रभावी भी होता है तथा अहं की भावना को कम करने का प्रयास भी होता है। परन्तु जैसे ही हम इस 'व्यक्ति' (परम्परागत शब्दावली में 'जीव') की स्थिति को छोड़ कर 'आत्मा' की स्थिति में आते हैं, एक मौलिक स्तरभेद आ जाता है।

शल्य जी यह स्वीकार करते हैं कि "यह सही है कि भारतीय दर्शनों में से अधिकांश ने मनुष्य का परम साध्य मोक्ष को ही माना और इस प्रकार अन्य मानवीय साधनाओं की ओर ध्यान नहीं दिया ... ।" जिन दार्शनिकों ने इन अन्य पक्षों पर विचार किया उन्होंने इन्हें परम साध्य नहीं माना। दूसरी ओर यदि भारतीय दार्शनिकों ने इन पक्षों पर विचार नहीं किया, तो, शल्य जी कहते हैं, दूसरे चिन्तकों ने इन्हें विचार का विषय बनाया। आगे वे यह भी कहते हैं कि सभी भारतीय दार्शनिक मोक्ष की बात नहीं करते और जो ऐसा नहीं करते उनके विचार जगत् विषयक हैं। परन्तु यह सब सही होने पर भी ऐसा क्यों हुआ है कि हमने, अर्थात् हम में से अधिक ने, अपने जीवन को इस प्रकार बाँट लिया है कि कुछ सब समय इस धारणा को अर्पित करते हैं कि एक मात्र ब्रह्म (आत्मा) ही सत्य है तथा शेष समय हम जगत् को अर्पित करते हैं, दोनों को एक-दूसरे से नितान्त अलग मानकर। ध्यान देने की बात यह है कि जगत् से यह आसक्ति हमें अपने निजी लक्ष्यों से बाहर नहीं जाने देती।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

'व्यक्ति-भाव' तथा 'सह-भाव' के तुलनीय पक्ष की ओर इशारा करते हुए शल्य जी इस बात पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं कि 'व्यक्तिभाव' को हीन क्यों समझा जाय? यह भी ध्यान देने की बात है कि वे इस अवसर पर 'आत्म-भाव' की बात न कर 'व्यक्ति-भाव' की बात करते हैं। दूसरे वे 'सह' की बात को उपनिषदों में उल्लिखित नहीं बताते। उनकी पहली टिप्पणी तो प्रासंगिक लगती है। तुलनात्मक दृष्टि से 'व्यक्ति' तथा 'सहचारिता' दोनों का ही अपने-अपने सन्दर्भों में महत्त्व है। परन्तु दूसरी बात ठीक नहीं लगती। पहले तो सभी उपनिषद् उस अर्थ में आत्मचेतना को केन्द्र मानकर नहीं चलते प्रतीत होते जैसा शल्यजी के कथन से प्रतीत होता है। दूसरी बात यह है कि दयाजी जो उद्धरण शांति पाठ के रूप में प्रस्तुत करते हैं वह तो उन उपनिषदों में भी उपलब्ध होता है जिनमें 'आत्म-चेतना' मुख्य विषय है। यह दूसरी बात है कि शल्य जी शांतिपाठ को उपनिषद् के प्रमुख कथ्य के अंग के रूप में न लें। परन्तु यह मानने पर भी उस गुरु-शिष्य परिप्रेक्ष्य को कैसे लेंगे जिसमें आत्म-चेतना की बात चलती है? यह समझने में भी कुछ कठिनाई होती है कि एक ओर शल्य जी कहते हैं कि "... सह की बात चेतना के आनुभविक जैविक स्तर पर होती है ..." और दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि "... आत्म-केन्द्रित विचार 'सह' का निषेध नहीं करता।" वे आगे दया जी के विचारों में इस भ्रान्ति की ओर संकेत करते हैं कि दया जी "आत्मा को व्यक्तिक स्व ..." मान लेते हैं। प्रश्न यह है कि "चेतना के आनुभविक लौकिक स्तर" तथा 'व्यक्तिक स्व' में क्या भेद है?

आगे शल्य जी दयाजी के इस कथन को उद्धृत कर कि "विषय भी ज्ञाता हो सकता है ..." कहते हैं कि दर्शन का थोड़ा भी जानकार इस प्रकार की बात नहीं करेगा। अब इस प्रकार की बात तभी होती है जब हम दूसरे के कथ्य में केवल अनर्गल प्रलाप ही देखते हैं। वस्तुतः बात का सन्दर्भ तो यह है कि जिसे (अर्थात् अन्य व्यक्ति को) साधारणतया विषय-मात्र समझा जाता है वह भी ज्ञाता हो सकता है।

इसी प्रकार चेतना का व्यावर्तक लक्षण ज्ञान है अथवा अन्य की उपस्थिति, इस प्रश्न को ले सकते हैं। अब इस प्रश्न का उत्तर, जिस पर बहुत स्याही बहाई गई है, इस बात पर आश्रित है कि चेतना को किस रूप में ग्रहण किया जा रहा है। यदि चेतना को मूलतया निर्विषय माना जाय तब अन्य की उपस्थिति उसके लिए नितान्त अप्रासंगिक है। अब इस सन्दर्भ में, या निर्विषय चेतना के सन्दर्भ में, ज्ञान की बात कैसे होगी? ज्ञान के लिए ज्ञेय पूर्वापेक्षित है और चेतना ज्ञाता तथा ज्ञेय एक साथ कैसे हो सकती है? और यदि ऐसा हो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भी सकता है तब स्पष्ट ही ज्ञान से यहाँ असाधारण अर्थ लिया जा रहा है। यदि चेतना तथा ज्ञान को उसके साधारण अर्थ में अभिन्न रूप में सम्बद्ध मानते हैं तब बिना ज्ञेय अथवा अन्य की उपस्थिति के चेतना कैसे रह सकती है?

दया जी तथा शल्य जी के बीच विचार-सन्दर्भ को लेकर मुझे जो प्रश्न आधारभूत लगता है वह यह है कि शुद्ध आत्म तथा जगत् के बीच जो खाई है उसे कैसे पाटा जाय? शल्य जी का दर्शन स्वयं इसका एक समाधान प्रस्तुत करता है, परन्तु तब उनके दर्शन में आत्म शुद्ध आत्म नहीं रहता।

राजेन्द्रस्वरूप भटनागर
10/558, मानसरोवर, जयपुर 302020

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

श्री यशदेव शल्य के 'इतिहास-दर्शन'. लेख पर उन्मीलन-गोष्ठी के क्रम में एक टिप्पणी

शल्य जी के इतिहास-दर्शन लेख पर मैंने मूलत: प्रतिक्रिया पिछले अंक के लिए लिखी थी किन्तु कुछ विलम्ब हो जाने से यह पिछले अंक में प्रकाशित नहीं हो सकी। उसके बाद पिछले अंक में उस लेख पर कुछ प्रतिक्रियाएँ और उनके शल्य जी द्वारा दिये गये उत्तर प्रकाशित हुए। उस सबसे मेरी मूल लिखित प्रतिक्रिया के जिन बिन्दुओं का साम्य था वे बिन्दु इस प्रतिक्रिया से हटा दिये गये हैं, किन्तु जो उस चर्चा से नये प्रश्न उठते हैं उन पर यहाँ कुछ नहीं कहा गया है, सिवाय एक स्थल के जिस पर टिप्पणी कोष्ठक से सूचित की गई है।

शल्य जी के 'इतिहास-दर्शन' लेख का प्रारम्भ कुछ भिन्न पदावली में किन्तु कुछ सादृश्य रखते हुए उस अवधारणा से होता है जो प्राय: आधुनिक पाश्चात्य इतिहास-दर्शन में परिकल्पनात्मक इतिहास-दर्शन एवं विश्लेषणात्मक इतिहास-दर्शन के भेद एवं उपभेदों के रूप में मिलती है। किन्तु शल्य जी के लेख में मूल विचार इतिहास-दर्शन विषयक पाश्चात्य पुस्तकों में विवेचित मुख्य बिन्दुओं, यथा ऐतिहासिक ज्ञान का स्वरूप, इतिहास-विचार में पद्धति का स्वरूप, इसके एवं वैज्ञानिक पद्धति के बीच साम्य या भेद का स्वरूप, कारणता का स्वरूप, तथ्य एवं व्याख्या का स्वरूप आदि पर कोई चर्चा नहीं है। सम्भवत: इसी कारण पिछले अंक में प्रकाशित प्रतिक्रियाओं में ऐसी आपत्तियाँ उठायी गयी हैं कि (शल्य जी इतिहास-दर्शन की बात न कर इतिहास के स्वरूप की बात कर रहे हैं, या शल्य जी का 'समग्रात्मक इतिहास' एवं 'इतिहास-दर्शन' के बीच का भेद अस्पष्ट है, आदि-आदि) जो कि वस्तुत: ठीक नहीं है।

शल्य जी के लेख में इतिहास को प्रमुख रूप से भारतीय समाज, या व्यापक रूप से मानव-समाज या मानवीय चेतना मात्र की प्रगति के रूप में देखा गया है एवं उसी को लक्ष्य कर कुछ टिप्पणियाँ ब्रह्माण्डीय इतिहास एवं जैविक इतिहास को लेकर की गई हैं। 'मानव के इतिहास' से तात्पर्य मानवीय घटनाओं में निहित विचारों के इतिहास या वैचारिक चेतना के इतिहास से है, स्पष्टत: उस विचार या चेतना से नहीं जो देश-काल में आबद्ध नहीं है या देश-कालातीत है, या जो 'अन्य' से सम्बन्धित नहीं है। कारण, ऐसी चेतना के लिए न तो इतिहास की प्रासंगिकता है न ही किसी विकास की। किन्तु यहाँ एक आधारभूत प्रश्न समाधान की अपेक्षा रखता है कि इतिहास-लेखक और उसके विषय : इतिहास के वाहक : दोनों वैयक्तिक चेतनाएँ ही होती हैं न कि समाज या सामाजिक चेतनाएँ। ऐसे में इतिहास को मानवीय समाज की प्रगति के रूप में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

देखना वस्तुतः उन व्यक्तिगत चेतनाओं को ही समूह रूप में देखना है, क्योंकि तात्त्विक रूप से समाज व्यक्तियों से स्वतन्त्र अपनी कोई सत्ता नहीं रखता। जब समाज को विशेष्य बनाकर उसे कोई विशेषण दिये जाते हैं तब वास्तव में ऐसा उस समाज के बहुसंख्यक व्यक्तियों में पायी जाने वाली विशेषता के आधार पर ही किया जाता है, व्यक्तियों से पृथक् किसी समाज नामक सत्ता की विशेषताओं के आधार पर नहीं। वस्तुतः समाज एक अमूर्त वाचक शब्द है एवं व्यक्तिविहीन समाज की कल्पना असंगत है। ऐसे में व्यक्तियों की चेतना के उत्कर्ष/अपकर्ष को ही समाज के उत्कर्ष/अपकर्ष का नाम दिया जाता है।

शल्य जी इतिहास को अर्थमूलक अनुक्रम और लक्ष्योन्मुख कारण-कार्य-परम्परा के रूप में घटित घटनाओं (मानवीय) के रूप में देखते हैं। घटनाओं की अर्थमूलकता या लक्ष्योन्मुखता सदैव स्थूल रूप से व्यक्त नहीं होती है। अतः अच्छे इतिहास का, शल्य जी की दृष्टि में, यह दायित्व है कि वह इन अदृश्य या अनभिव्यक्त अर्थों को, जो कि कभी-कभी कालातीत भी हो सकते हैं, उनके वाहक या सूचक अतीत के स्थूल घटनाक्रम के आधार पर पकड़ने की सूझ रखे। किन्तु इस प्रकार तो इतिहास का ज्ञान लगभग असंभव हो जायेगा और फिर दो इतिहास-लेखकों में मतभेद के निवारण का कोई निश्चित आधार ही नहीं रह जायेगा। क्योंकि ऐसे इन्द्रिय-अग्राह्य अर्थों और लक्ष्यों को इतिहासकार द्वारा जानना या समझना आरोपित या कल्पनामूलक ही हो सकता है, जिसमें इतिहासकार की धारणाओं, मूल्यों एवं पूर्वाग्रहों के लिए बहुत अवकाश रह जाता है। कारण, इतिहासकार द्वारा मानवीय घटनाचक्रों में निहित अर्थों की समझ ज्ञाता-अवस्थित मानसिक अर्थों/प्रयोजनों का प्रक्षेपण या आरोपण ही है जो अतीत की वस्तुगत समझ के बजाय व्यक्तिनिष्ठ व्याख्याओं के अधिक समीप है। अन्यथा तो कोई योग-सिद्ध ज्ञान-युक्त मानवीय चित्त या ईश्वर ही सफल इतिहासकार हो सकता है। लेकिन ऐसे 'विषयी' के लिए मानवीय लौकिक इतिहास रूपी विषय के प्रति कोई अभिरुचि नहीं हो सकती।

योगेश गुप्ता
दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला के अन्तर्गत दर्शन प्रतिष्ठान के प्रकाशन

चिद्विमर्श

यशदेव शल्य

विषय-सूची

1. दर्शन का आरंभ-विन्दु : प्रत्यङ्मुख चैतन्य 2. मनुष्य और जगत् 3. आत्म और अनात्म 4. जगद्वासना 5. जगच्चैतन्य : चैतन्य का जगद्विवर्त 6. कला-सर्जन 7. धर्म-दर्शन 8. मनुष्य, इतिहास और समाज विषयक वैदांतिक अवधारणा 9. तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा।

मूल्य 175.00

मूल्यतत्त्व-मीमांसा

(शंकर-पुरस्कार से सम्मानित)

यशदेव शल्य

विषय-सूची

1. तत्त्वमीमांसा का औचित्य : आत्मतत्त्वान्वेषण 2. सृजन और सत्य : मूल्य की तत्त्वमीमांसा 3. मूल्य की वस्तुतंत्रता 4. धर्म-नीति का तत्त्व 5. धर्म-नीतिगत प्रामाण्य का स्वरूप 6. कला का अन्वेष्य-1 7. कला का अन्वेष्य-2 8. कलान्वेष्य सत्य का स्वरूप 9. ज्ञान और उसका अन्वेष्य 10. आत्मान्वेषण-1 11. आत्मान्वेषण-2 12. स्वातन्त्र्य। परिशिष्ट : लोकसाधन।

मूल्य 200.00

प्रमुख भारतीय और पाश्चात्य दर्शन-धाराएं

यशदेव शल्य - भगवती

विषय-सूची

1. ऐतरेय उपनिषद् : रूपक का दार्शनिक तात्पर्य 2. तैत्तिरीय उपनिषद् की तत्त्व-दृष्टि 3. सांख्य 4. शांकर अद्वैतवाद 5. वसुबन्धु का विज्ञानवाद 6. अपोहवाद 7. जैन अनेकान्तवाद और स्याद्वाद 8. डेकार्ट 9. इम्मेनुएल कांट 10. समकालीन पाश्चात्य अनुभववादी दर्शन : सर्वेक्षण।

मूल्य 250.00

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection